इस्पातिका

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन की अर्द्धवार्षिक शोध–पत्रिका

ISPATIKA

Bi-annual Research Journal of Language, Literature And Culture Studies

संपर्क : 3, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज परिसर, सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर, झारखण्ड 831001

e mail : ispatikabiannual@gmail.com

मो. 09471576404/09013311287/09211063480

website : www.ispatikabiannual.in

इस्पातिका अर्द्धवार्षिक शोध–पत्रिका
अंक २, वर्ष २, जनवरी–जून २०१३

ISPATIKA Bi-annual Research Journal
Year 2, Vol 2, January-June 2013

मूल्यांकन समिति :
सुधाकर सिंह, जोहरा बेगम, नीरजा टण्डन
विनोद तिवारी, लक्ष्मण प्रसाद, मिथिलेश

Board of Referees :
Sudhakar Singh, Zohra Begum, Neerja Tandon,
Vinod Tiwari, Lakshman Prasad, Mithilesh

सलाहकार संपादक मंडल :
ओमप्रकाश सिंह, बालमुकुंद पैनाली, प्रभाकर सिंह
कीर्ति विक्रम सिंह, संजय यादव, संजय नाथ

Advisory Editorial Board :
Omprakash Singh, Balmukund Painali,
Prabhakar Singh, Kirti Vikram Singh,
Sanjai Yadav, Sanjay Nath

प्रतिनिधि संपादक :
प्रभात कुमार मिश्र (उत्तर पूर्वी भारत)
नीलांबुज सिंह (उत्तर पूर्वी भारत)
सिन्धु टी. आई. (केरल)
एम. वासंती (कर्नाटक)
आशुतोष सिंह (मध्यप्रदेश)
सौरभ द्विवेदी (पंजाब)
अशोक कुमार मीणा (राजस्थान)
अजीत कुमार तिवारी (नई दिल्ली)

Representative Editors :
Prabhat Kumar Mishra (North East)
Nilambuj Singh (North East)
Sindhu T. I. (Kerla)
M. Vasanti (Karnataka)
Ashutosh Singh (M.P.)
Saurabh Dwivedi (Punjab)
Ashok Kumar Meena (Rajsthan)
Ajit Kumar Tiwari (New Delhi)

सह संपादक :
अनिरूद्ध कुमार

Co-Editor :
Aniruddha Kumar

संपादक :
अविनाश कुमार सिंह

Editor :
Avinash Kumar Singh

***आवरण चित्र :** श्री अजय कुमार सिंह, डीएवी, स्वांग, गोमिया, झारखण्ड
***यह अंक** : 55 रु./–
***सदस्यता** : वार्षिक : व्यक्तिगत– रु. 110/–, संस्थागत– रु. 150/–
पंचवर्षीय : व्यक्तिगत– रु. 550/-, संस्थागत– रु. 750/-
आजीवन : व्यक्तिगत– रु. 2500/–, संस्थागत– रु. 5000/–
***आवर्तित** : अर्द्धवार्षिक, **भाषा** : हिन्दी–अन्ग्रेजी, **ISSN : 2231-4806**
*स्वत्वाधिकारी, संपादक, प्रकाशक, मुद्रक अविनाश कुमार सिंह द्वारा हिन्द प्रिंटिंग वर्क्स, भदैनी, वाराणसी से मुद्रित कराकर ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज परिसर, सी. एच. एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर, झारखण्ड–831001 से प्रकाशित.
*प्रकाशित रचनाओं में अभिव्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है.
*संपादन एवं प्रकाशन : अवैतनिक–अव्यावसायिक.
*समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र जमशेदपुर होगा.

अनुक्रम

संपादकीय

व्याख्यान :

साहित्य के केन्द्र में मैं सर्जन को नहीं, सम्प्रेषण को रखता हूँ ११–१९
अज्ञेय

शती विशेष :

सबाल्टर्न अध्ययन और रामविलास शर्मा का जाति–चिंतन २०–२५
अजीत कुमार तिवारी

जनपक्षीय सरोकार के कवि नेपाली २६–३३
सुभाषचन्द्र गुप्त

संग हर शख्स ने हाथों में उठा रखा है : मंटो की कहानियाँ ३४–३६
कुमार वीरेन्द्र

चिंतन:

पारिस्थितिक अभिवृत्ति : अन्त:विद्यापरक आयाम ३७–४४
दिलीप कौल

साक्षात्कार :

सिनेमा की समझ आम सिने–दर्शकों में पापुलर सिनेमा के ही रुप में है ४५–४८
श्रीराम लागू

भाषा :

मगही भाषा : इतिहास, स्वरूप और संस्कार ४९–५९
लक्ष्मण प्रसाद

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का भाषिक एवं व्याकरणिक चिंतन ६०–६८
अरविंद कुमार

आलोचना :

हिन्दी आलोचना और विचारधारा ६९–७२
नीलांबुज सिंह

७३–७६

पूछते हैं वह कि गालिब कौन है ७७–८२
कमलेश वर्मा

असंवाद का हिमबिंदु और आज का नाटक ८३–८९
आशा रानी

रामचन्द्र शुक्ल के भीतरी एकालाप और बाहरी संवाद... ९०–९६
तरुण गुप्ता

छद्मवेषी राजनीति का जीवंत दस्तावेज ९७–१०१
धनंजय कुमार चौबे

स्त्री और श्रमिक जीवन का महाख्यान १०२–१०८
कल्पना पंत

उदारीकरण, सामाजिक संरचना और जयनंदन की कहानियाँ १०९–११५
अमृतांशु

शोषणमुक्त, वर्गविहीन समाज की परिकल्पना ११६–१२०
धर्मेन्द्र कुमार सिंह

समकालीनता का स्वरूप और हिन्दी कविता का सामान्य संकट १२१–१२५
राकेश कुमार सिंह

अस्तित्ववादी चेतना और औपन्यासिक चरित्र १२६–१२९
बालकृष्ण बेहेरा

संस्कृति :

अशोक के व्यक्तिगत एवं सार्वजनीन धर्म की अवधारणा १३०–१३६
देवेन्द्र कुमार सिंह

उपन्यास अंश :

सोनवारे नरहरि १३७–१४४
जयनंदन

दो गज़लें १४५–१४५
जगमोहन

कविताएं :

विश्वास १४६–१४६
अमित परमार

अब क्या बचा है गाँव में १४७–१४८
एस.एन.सिंह

दातून बेचने वाली के बहाने १४९–१४९
आशुतोष कुमार झा

पुस्तक समीक्षा :

मुक्ति का कंकरीला पथ १५०–१५२
जय कौशल

रपट है :

दीन की बेटियों के हुकूक : **हंस** का वार्षिकोत्सव १५३–१५४
अजय मेहताब

शोध क्षेत्रे :

भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हिन्दी भाषा व साहित्य संबंधी पीएच.डी. शोध ग्रन्थों की सूची १५५–१६०
सोन सन क्यंग, अनिरूद्ध कुमार

संपादकीय:

रचना, आलोचना और युवा : बाजार और मीडिया संदर्भ

जे.एन.यू. में अध्ययन के समय एक सहपाठी की कुछ तकियाकलाम सरीखी टिप्पणियां हमारे बैच के लोगों पर तारी रहती थीं। किसी भी विषय पर बात करिये, मसलन– हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान या, विभूतिनारायण राय की सामंती टिप्पणी के सामाजिक संदर्भ– वह शुरू ही करता कि 'हम संकट के समय में जी रहे हैं।' हालांकि आगे न वह बताता, न कोई जानना चाहता कि हमारे समय का संकट क्या है और क्यों यह ब्रह्म–वाक्य वह हमेशा प्रयोग करता था, एक रहस्य ही बना रहता। प्राय: सब उसकी भाषागत दक्षता की रौ में मुग्ध अवगाहन करने लगते। आज जब कि वह एक प्रतिष्ठित अखबार समूह में युवा–पृष्ठ का संपादन कर रहा है, तो बात धीरे–धीरे समझ में आ रही है। यह दौर संकट का है या नहीं यह तो बाद में तय करेंगे लेकिन यह दौर अभूतपूर्व सूचनाक्रांति का तो है ही, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके लिये भाषा की 'बाजीगरी' बेहद जरूरी हुआ करती है। मीडिया के प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक तमाम माध्यमों की रेंज काफी बड़ी है। एक मोटी बैलेंस शीट वाला व्यवसाय है यह मीडिया उद्योग। और चूंकि यह ऐसा है अत: प्रतिस्पर्धा भी है। प्रतिस्पर्धा है तो अपने अस्तित्व का सवाल भी है। चूंकि सवाल अस्तित्व का है तो– मरता, क्या न करता; की तर्ज पर जायज–नाजायज का सवाल बेमानी है। अत: जितना अवमूल्यन हम भारतीय मुद्रा का नहीं देख रहे, आज उससे अधिक चिंता वाया मीडिया परोसी जा रही है। आम भारतीय के रोजमर्रा के संकट की अपेक्षा ज्यादा 'बड़ी खबर' के रूप में माया सभ्यता की वह भविष्यवाणी बन जाती है जिसमें दिसंबर, २०१२ तक प्रलय की गणना की गई है। यह 'बड़ी खबर' फैली नहीं कि बाजार ने मुनाफे की बाजी दे मारी। अचानक (हालांकि अचानक बहुत कम ही चीजें होती हैं) बाजार में कई बेमौसम के सेल ऑफर और क्लीयरेंस ऑफर तथा आसान किस्तों वाली ऋण दरें आन झपटती हैं। मात्र एक साल के भीतर कार और इलेक्ट्रॉनिक उत्पादों की बिक्री में चौंकाने वाला ईजाफा दिखाई पड़ने लगता है। दिसंबर, २१०२ तक भारत का मध्यवर्ग वह 'सबकुछ' भोग लेना चाहता था, जो संभवत: २०१२ के बाद मयस्सर न होता। ठीक इसी समय केन्द्र की सरकार भी तमाम मैन्युफैक्चरिंग और सेवा–प्रदाता ईकाईयों के लिए कंपनी लॉ और पंजीकरण के नियम ढीले करने लगती हैं। सत्ता और बाजार के साथ मीडिया का यह कोरस निकल पड़ता है। विज्ञापनों की बाढ़ से मीडिया की सेहत दुरुस्त हो जाती है और यही समय होता है जब पुन: मीडिया की तरफ से एक 'खबर' आती है कि दुनिया के किसी कोने से कुछ 'खोजियों' ने एक प्राचीन गुफा से ऐसे पंचांग की तलाश कर ली है, जो माया सभ्यता की भविष्यवाणी को नकारती है। लब्बोलुआब यह कि दिसंबर, २०१२ के बाद भी दुनिया रहेगी। तो भाई लोग– 'पुनर्मूषको भव:'। दिसंबर, २०१२ के बाद भी किस्त चुकानी पड़ेगी और वह भी मुद्रास्फीति की मार झेल रही भारतीय अर्थव्यवस्था के बीच। हाँ, रिजर्व बैंक को अपनी आधार दरें और अधीनस्थ बैंकों को अपनी ब्याज दरें बढ़ाने की वाजिब वजहें भी यहीं से मिल गईं– माया (सभ्यता) महाठगिनी मैं जानी! पहले आदमी के भय को धर्म की दुकानों ने भुनाया और अब वे दुकानदारी के धर्म की मार खा बैठे। मैं ये नहीं कह रहा कि सबकुछ इसी तरह आँकड़ेवार ढंग से या हू–ब–हू हुआ, लेकिन अभिलक्षण तो ऐसे जरूर दिखे। अमेरिका का सबप्राइम संकट, फेडरल सहित तमाम प्रतिष्ठित बैंकों का दिवालिया हो जाना क्या साबित करता है? साहित्य भी चूंकि एक सामाजिक क्रिया और सामाजिक उत्पाद है, अत: ऐसे उच्चावचों से उस पर भी असर पड़ता है।

तो ऐसे समय में असली संकट कहाँ है, यह देखना जरूरी है। हमारे या किसी भी समय के साहित्य की यह चुनौती रहती है कि वह बेसिक कंफ्लीक्ट को पकड़े और अपनी रचनाशीलता को इससे रचनात्मक मुठभेड़ करते हुए धार व धारा दे। बाजार किस तरह मिथक, इतिहास, वर्तमान और भविष्य को निर्धारित कर रहा है; इसकी पहचान जरूरी है। हमारे हिन्दी–समय में फिलहाल 'युवा रचनाशीलता' का माहौल है। हर दूसरा बड़ा आलोचक किसी नये चेहरे के प्रमोशन में उत्सवधर्मी परिवेश खड़ा कर रहा है। उसे नये मुहावरों का आविष्कारक बता रहा है। लिहाजा यह सवाल जरूरी हो जाता कि साहित्य में 'युवा' की परिभाषा क्या है? युवा उपसर्ग में विधाओं की अलग–अलग संज्ञायें जोड़कर चलाये जा रहे विचारोत्सवों के मानी क्या है? क्या बाजारवाद इस पूरी पद प्रक्रिया में नहीं है! मेरे मन में युवा को लेकर जो दो पहलू बन रहे हैं वे यों हैं : उम्र या वय के आधार पर तय की जाने वाली रचनाशीलता या समय–संदर्भ की गहरी सूझ और उसी के समानांतर सक्रिय रचनाशीलता। यदि पहला पहलू लें तो कम से कम दो बातें होंगी : १. साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में इसी तर्ज पर प्रौढ़, वृद्ध, वयोवृद्ध, कैशोर्य, बचकानी, बचपनी, पचपनी रचना और आलोचना का स्वरूप और देश–काल निर्धारित किया जाय; २. यदि 'युवा' का विशेषण कुछ देर के लिए मान भी लें तो सरकारी हिसाब–किताब से मतदान की माकूल उम्र १८ और विवाह की २१ है तो, साहित्यिक आँकड़े में युवा रचनाकार की प्रस्थान उम्र क्या हो? और वह कितनी उम्र तक युवा की जद में बना रहेगा? ३५ तक या ५० तक! यह भी ध्यान में रखते हुए कि भारतीय जीवन प्रत्याशा का वर्तमान तो युवा के दायरे में कुछ अलग मंजिलें भी जोड़ रहा है।... बहरहाल, भारतेंदु बाबू तो ३५ तक ही जीवित रहे। और मेरी जानकारी में उन्हें भी युवा नामक विशेषण से नहीं नवाजा गया, और आज इतने वर्ष बीतने के बाद साहित्य की पट्टी में क्या वे वृद्ध मानें जाय? ऐसे और उदाहरण भी हैं। खैर, यदि दूसरे पहलू पर बात समझ में आये तो पहला पहलू अपने आप खारिज हो जाता है।

दरअसल हमें इस विशेषण के कु–भाव को समझने की जरूरत है। बाजारवाद ने बड़ी

चालाकी से उत्तर–आधुनिकतावाद और उसके तर्क गढ़े हैं और अमरीका की वैश्विक सैन्य छावनियों की तरह उसके मुरीद और अनुकर्त्ता संस्थाएं और व्यक्ति तैयार कर लिये गये हैं। कहा जा रहा है कि यह प्रश्नवाचिकता और विमर्शों का दौर है। वस्तुत: विमर्श के अलग–अलग केन्द्रों का मकसद एक असंवादी माहौल बनाना है। समय और समाज बोध को टुकड़ों में बाँट कर देखने की घड़ियाली दृष्टि है विमर्श। युवा भी एक प्रायोजित विशेषण है। फेसबुक, ब्लॉग और ट्विटर की प्रचार कृपा का जयघोष करने वाला यह युवा कितना रेलेवेंट है कि भट्टा–परसौल, नंदीग्राम, सिंगूर आदि जगहों पर किसानों की स्थिति पर संवादशून्य है और एक अस्सी से ज्यादा वय का हिन्दीजीवी (नामवर सिंह) चिंतित होता है कि आज के रचनाकार किसान समस्या पर न कुछ लिख रहे हैं, न कुछ कर रहे हैं। ऐसे में यह युवा पद मुझे बड़ा बेतुका लगता है। बाजार और राजनीति के गठजोड़ का यह दौर बड़े शातिर अंदाज में जुमला फैला रहा है। राहुल गांधी, वरुण गांधी, सचिन पायलट, उमर अब्दुल्ला, नवीन, ज्योतिरादित्य की फेसवैल्यू को भुनाने की समानांतर तरतीब साहित्य क्षेत्र में घुस चुकी है। एक पत्रिका के संपादक तो बकायदा छौनों के लिये गॉडफादर बने बैठे हैं। होगा भी क्यों नहीं, साहित्य को आंदोलन की जगह उद्योग बनाना इनका पुनीत कर्त्तव्य है। वर्तमान रचनाशीलता के इस आसन्न संकट को डिकोड करने और इसी बहाने रचनाशीलता को सही दिशा देने का दायित्व आज की साहित्यिक चुनौती है। युवोन्मुख एक पत्रिका के एक अंक में युवा आलोचकों से कुछ प्रश्नों पर प्रतिक्रियाएं मंगायी गई थीं। कईयों ने कई प्रकार के तर्क दिये थे। जिसमें आज के युवा के लिए सबसे बड़ी और व्यावहारिक चुनौती ग़मे इश्क और ग़मे रोजगार बताया गया था– युग–संक्रांति की कुछ सुनिश्चित अवधि अर्थात् ईसवी सन् निर्धारित किये गये थे– यूजीसी द्वारा पत्रिकाओं के लिए आई.एस.एस.एन. और पुस्तकों के लिए आई.एस.बी.एन. की बाध्यता का प्रावधान कर दिए जाने को भी युवा–आलोचना की राह का रोड़ा बताया गया– संस्थानों के आकाओं द्वारा टाँग खिंचाई को भी एक प्रतिगामी कारण के रूप में देखा गया। इन सब पर आगे भी बहस हो सकती है और होनी चाहिए। लेकिन फिलहाल जो बात उक्त प्रतिक्रियाओं के बीच से परेशान करने वाली है वह यह कि १९९० से २००० तक के दशक को साहित्य और समाज दोनों स्तरों पर एक प्रस्थान बिंदु का प्रस्तावक बताने की चेष्टा विचित्र है। ऐसा लगता है कि समय कोई प्रवाहमान प्रक्रिया न होकर एक ठहरी हुई अवधारणा हो। १९९० से २००० के साहित्य और समाज के बनने–बिगड़ने में मानो इसके पहले के समाज–साहित्य की कोई भूमिका नहीं थी। मानो परंपरा, प्रगति और प्रयोग में कोई संबंध नहीं। सवालों की शुचिता पर भी सवाल खड़ा होना चाहिए। यह कैसी आधुनिकता का शास्त्र है कि हम तब से साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में आये तथाकथित 'भू–कंप' की बात करना चाहते हैं जब से हमारी लेखनी ने इन क्षेत्रों में होश सँभाला! हाँ, यह बात कुछ हद तक ठीक है कि यूजीसी के मनमाने नियमों और बदलावों ने युवा आलोचना को प्रभावित किया है। जाहिर है इशारा पत्रिकाओं और पुस्तकों के आई.एस.एस.एन. और आई.एस.बी.एन. नंबरों की तरफ भी है जहाँ छपकर विश्वविद्यालय–महाविद्यालय का शोध छात्र और अध्यापक नौकरी और प्रमोशन में सुभीता महसूस करेगा। कम से कम हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता जो अब तक सांस्कृतिक आंदोलन–चरित्री थी, वह भी व्यावसायिकता की ओर बढ़ रही है। खैर, आई.एस.एस.एन. इतनी बड़ी चीज भी नहीं है जो युवा आलोचना के तेवर को कुंद करे। इसी तरह क्या ग़मे इश्क और ग़मे रोजगार के सिचुएशन के ट्रीटमेंट के लिए हमारी वर्तमान तथाकथित वृद्ध आलोचना की रेंज छोटी और चश्मे पुराने हैं? दूसरी बात अकादमिक आकाओं और उनकी बाड़ेबंदी, शिविरबंदी के संबंध में निवेदित करनी है। आकाओं द्वारा मातहत की टाँग–खिंचाई केवल आज की आलोचना का संकट नहीं बल्कि हिन्दी बिरादरी की शाश्वत वृत्ति रही है। जरूरत है अपनी टाँग को मजबूत करने के लिए गहन और व्यापक अध्ययन की। अन्यथा हिन्दी को नामवर सिंह, मैनेजर पांडेय, विश्वनाथ त्रिपाठी आदि न मिले होते। और यदि तथाकथित उत्तर–आधुनिकता में जीना और उसी पर लिखना युवा होना है तो सुधीश पचौरी सबसे युवा हुए और सूर, रहीम, दारा शिकोह पर लिखकर मैनेजर पांडे, कबीर, रामानंद के बहाने देशज आधुनिकता का पारदर्शी दर्शन देने वाले ६० के आसपास के पुरुषोत्तम अग्रवाल, भक्तिकाल की अवधारणा पर बात करने वाले लगभग इसी उम्र के गोपेश्वर सिंह अ–युवा होने के पापभागी ठहरे।

सारी कवायद मार्केटिंग की है। याद करिये लोकप्रिय कलारूप रामायण को, जिसके अभिनेता अरुण गोविल राम की जातीय पहचान बन गये थे। बाद में रंगीन टीवी पर उनकी जगह मसल्स और चेहरे पर गढ्ढे वाले पात्र ने ले ली। बाजार दो कदम और उत्साहित हुआ। एनिमेशन फिल्मों के राम की आपाद–मस्तक माँसपेशियां भावों के उठने–गिरने के साथ हद दर्जे तक फूलने और पिचकने लगीं। यहाँ दृश्य में एक चालाक अदृश्य काम कर रहा है। यहाँ भोले दर्शक की भावनाओं को यांत्रिक तरीके से तादात्म्यीकृत किया जा रहा है। बाजार को बिकने वाले चेहरे और बिकने वाली भाषा चाहिए। बाजार को चेतन भगत चाहिए। काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, जयनंदन प्रभृति स्रष्टा वरेण्य नहीं है। लेकिन सबकुछ इतना बुरा भी नहीं है। विवादास्पद युवा रचनाशीलता को मंच देने वाली एक पत्रिका के वर्तमान संपादक को मैंने कई जगहों पर सुना है और ठीक ही सुना है कि 'यह तथाकथित युवा रचनाशीलता आधुनिकता के नाम पर केवल भाषाई खिलवाड़ कर रही है। भाषा और संलग्न परंपरा, इतिहास बोध से इनका कोई वास्ता नहीं। ये सभ्यता के आधारभूत अंतरविरोधों को नहीं समझते।' हालांकि इसी बीच झारखण्ड के एक कस्बाई कथाकार शेखर मल्लिक, जिसकी उम्र मतदान वाली उम्र से थोड़ी ही ज्यादा है, ने आदिवासी ग्रामीण समाज की रूढ़िग्रस्तता पर बेहतरीन कहानी लिखी 'डायनमारी' नाम से। यह फेसबुक और ट्वीटर से परे अपने प्रत्यक्ष समाज को देखने की सामाजिक प्रतिबद्ध दृष्टि है। यह नसीहत भी है, प्रबंधन का हुनर सीखने वाली, दिल्ली में बैठे आकाओं की आधिकारिक टिप्पणियों के साथ छप रही युवा रचनाशीलता को। इन आधिकारिक टिप्पणियों के साथ युवाओं की रचनाशीलता को दिग्भ्रमित करने की, इतिहास, परंपरा और समाज को खारिज कर देने की यह कोशिश भी अपना ऐतिहासिक

संदर्भ रखती है। क्रोचे और शुक्ल जी की बात तो है ही, मैं साठ के दशक की याद दिलाना चाहता हूँ, जब हिन्दी में प्रयोगवाद–नई कविता और प्रगतिशील समीक्षा दृष्टि के बीच कुछ बुनियादी टकराव हो रहे थे। अज्ञेय के नेतृत्व में इलाहाबाद से कुछ युवाओं की साहित्यिक जमात तैयार की जा रही थी। यह जमात अपने तर्कों को लेकर सिनिकल थी। अमेरिकी विट काव्यांदोलन और यूरोपीय नाराज पीढ़ी की तर्ज पर यह जमात किसी भी तरफ नहीं खड़ी थी। उनके तर्कों के अनुसार, उन्हें न तो समाजवादी विचारधारा प्रिय थी, न ही वे किसी कलात्मक मूल्य या आत्मवादी दर्शन से प्रभावित थे। ये दरअसल कुछ भी नहीं थे और कुछ भी नहीं होने को ही व्यक्ति की आजादी से महिमामंडित कर रहे थे। इनके भाषणों, कविताओं आदि में एक अजीबोगरीब दृश्य हुआ करता था, जिसका कोई भौतिक या वैचारिक आधार एवं भविष्यदृष्टि नहीं थी। उनके पास एक ही तर्क था– अस्तित्व–रक्षा, जो कि घोर व्यक्तिवादी तर्क था। इसी बीच शिवदानसिंह चौहान **साहित्य सम्मेलन**, इलाहाबाद द्वारा आयोजित **आलोचना के मान** शीर्षक व्याख्यानमाला (१७ दिसंबर, १९५७) में उक्त अराजक दृष्टि की भारत के संदर्भ में असामयिकता और असंगतता पर टिप्पणी करते हैं : ''मैंने कभी–कभी सोचा है कि क्या सचमुच स्वतंत्रता प्राप्त करते ही हमारे देश की संस्कृति में वैसा ही संकट पैदा हो गया है, जैसा पाश्चात्य देशों में बताया जाता है? क्या सचमुच नैतिक आदर्शों और भावनाओं की पुरानी दुनियां नष्ट हो गई है, और व्यक्ति के सामने अस्तित्व–रक्षा ही एकमात्र प्रश्न रह गया है? क्या सचमुच पश्चिमी देशों में व्याप्त 'आशंका के युग' की काली घटनाओं ने बढ़कर हमारे देश के आसमान को भी ढंक लिया है, जिससे त्रस्त और आतंकित भारतीय जन अपनी संस्कृति, मानवता–बोधिनी परंपरा और जीवन–मूल्यों को भूलकर पशु के साथ अपनी मौलिक निकटता का अनुभव करने लगे हैं? राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए एक शताब्दी से संघर्ष सर्व–संहारकारी अस्त्रों के युग में विश्व–शान्ति और सहअस्तित्व के लिए आवाज उठाकर क्या भारतीयों ने सचमुच ही कोई ऐसा जघन्य पाप कर डाला है कि 'अपराध–भावना' से ग्रस्त उनका उपचेतन अब उन्हें हर समय धिक्कारता रहता है कि सब पापों की जड़ मनुष्य की मनुष्यता है?... स्वतंत्रता प्राप्त करते ही क्या हठात् भारतीय–जन अपनी चिर–अतृप्त आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्षुधाओं को भूलकर केवल जैवी–स्तर की तृप्तियों को ही जीवन का सर्वोच्च मूल्य समझने लगे हैं? ये प्रश्न अनर्गल नहीं हैं और न ही आलोचना के मान की बहस से सर्वदा असंगत ही, क्योंकि अधुनातन भारतीय चेतना के बारे में–अधिकतर इलाहाबाद से ही–कुछ ऐसे दावे पेश किये गये हैं–इतने स्पष्ट शब्दों में नहीं, बल्कि व्यक्ति–स्वातंत्र्य और साहित्य का दायित्व, और साहित्यकार और उसका परिवेश जैसी गंभीर सैद्धान्तिक बहसों के वाग्जाल में लपेट कर और तरुण लेखकों को दिग्भ्रान्त करने के लिए उन दावों के आधार पर साहित्य की नयी मर्यादाएं गढ़ी गई हैं।'' (समालोचक : सं. रामविलास शर्मा, मई १९५८, पृ. ५०) आज भी वे प्रवृत्तियां और वे सवाल बने हुए हैं। तब **कॉन्ग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम** के अमेरिकी झण्डे के तले पूरी दुनिया के साहित्यिक–सांस्कृतिक परिवेश में एक अराजनीतिक, इतिहास–निरपेक्ष, असामाजिक और अभिभूत माहौल तैयार कराये जाने की कोशिशें हो रही थीं, आज वाया बाजार और नये बाजारों की तलाश के निमित्त साहित्य को युवा रचनाशीलता के ग्लैमरस आभामंडल के मुखौटे में प्रतिरोधहीन माहौल से बोझिल बनाया जा रहा है। पुरस्कार, सम्मान, पद आदि इसके हथियार हैं। अत: पुन: उसी मीडियाकर सहपाठी को याद करते हुए कि, संकट तो है, क्योंकि हिग्स महोदय के लाख इन्कार के बावजूद कि उनके महाप्रयोग से कोई 'गॉड' संज्ञायुक्त पार्टिकल नहीं निकला है, वह महज 'पार्टिकल' है, गॉड नहीं– मीडिया 'गॉड' पर ही बलाघात करती रही। एक अराजनीतिक परिवेश का रचनात्मक प्रतिरोध राजनीतिक समझदारी से ही संभव है, क्योंकि राष्ट्रीय पूंजीवाद के दौर से निकलकर हम पूंजीवादी राष्ट्रवाद के समय में ढकेल दिये गये हैं, और इन सबके बीच सूचना के अस्त्र–शस्त्र 'संकट' की त्वरित मीमांसा करने के लिये 'सज–धज' कर बैठे हैं। ऐसे में **इस्पातिका** के अपने लघु कलेवर में में जो कुछ आ पा रहा है, वह दरअस्ल समझाने की नहीं, समझने की ही कोशिश है और इसमें आ रही रचनाशीलता को मैं युवा रचनाशीलता की जगह वर्तमान रचनाशीलता कहना ठीक समझ पा रहा हूँ।

–अविनाश कुमार सिंह

व्याख्यान :

साहित्य के केन्द्र में मैं सर्जन को नहीं, सम्प्रेषण को रखता हूँ

अज्ञेय

यह महत्वपूर्ण व्याख्यान अज्ञेय ने १७ मार्च, सन् १९८५ में जमशेदपुर के ऐतिहासिक दिनकर परिषद् द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला में दिया था। यहाँ व्याख्यान का लिप्यंतरित रूप अविकल दिया जा रहा है। निश्चयतः यह व्याख्यान अधूरा है, वाक्य संरचना टूटी–फूटी है फिर भी महत्वपूर्ण इसलिये है कि अस्सी से नब्बे के दशक में अज्ञेय यहाँ अपनी कई मान्यताओं से स्वयं असहमति प्रकट करते हैं। तकनीकि खराबी से युक्त टेप से यथासंभव सामग्री उतारकर श्री मदनमुरारी ओझा जी ने यह अभिभाषण हमें उपलब्ध कराया, हम उनके आभारी हैं।

मैं सबसे पहले दिनकर जी के प्रति अपना सम्मान प्रकट करना चाहता हूँ जिनके नाम से ये परिषद् स्थापित हुई जिसने मुझे आमंत्रित किया। दिनकर जी ने बिहार को वाणी दी इस बात से आप सब सहमत होंगे और ये बड़ा काम है। लेकिन उससे भी बड़ा काम उन्होंने ये किया है कि उन्होंने आपको अपनी पहचान दी और, मैं समझता हूँ कि कवि के लिए ये अधिक बड़ा काम होता है यानि पहचान कराने में कविता मदद करे। इससे बड़ा काम शायद वह नहीं कर सकते। दिनकर जी के प्रति अपना सम्मान निवेदित करने के बाद मैं बिहार एसोसिएशन और दिनकर परिषद् के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे आमंत्रित किया। मेरी इच्छा के विरूद्ध मुझे यहाँ बुलाया। लेकिन फिर भी ये अनुभव मैं करता रहा कि मेरे प्रति उनका कृपा भार है, उनका स्नेह है जिसके कारण उन्होंने मुझे बुलाया है। पिछली बार भी आना मैंने स्वीकार किया था और नहीं आ पाया तो उसका दोषी मैं नहीं हूँ। दिल्ली से चला भी था लेकिन रास्ते में अटक गया और फिर वहीं से निराश होकर लौट गया और तब से मैंने यह मान लिया कि वादा पूरा करूँगा और ये अवसर मुझे अभी मिला। इतनी बात कह देना आसान था। इसके बाद मेरी कठिनाई आरंभ होती है कि जो विषय मेरे सामने है उस पर एक लेखक के नाते मैं क्या कुछ कह सकता हूँ। अध्यापकों से मुझे कभी–कभी बड़ी ईर्ष्या होती है कि ऐसे किसी भी विषय पर किसी भी समय वो पचास मिनट का नपा–तुला व्याख्यान दे सकते हैं। मैं उन भाग्यवान लोगों में से नहीं हूँ। इसलिए उनसे मुझे ईर्ष्या होती है और यह भी जानता हूँ कि इस तरह के विषय पर या शायद किसी भी विषय पर मेरे व्याख्यान बहुत काम के नहीं होते। अगर लिखी हुई बात किसी तरह लोगों तक पहुँच सकती है तो वो उपयोगी भी हो सकती है। कम से कम मैं प्रयत्न करता हूँ कि वो उपयोगी हो। तो कठिनाई मेरे साथ हमेशा रहती है लेकिन शंकरदयाल जी ने शायद कठिनाई थोड़ी और बढ़ा दी है। इस समय जैसी अपेक्षाएं उन्होंने बना ली होंगी मैं वैसी कोई बात सर्जन

और संदर्भ के बारे में नहीं करने वाला हूँ। संस्मरण भी आपके सामने नहीं रखूँगा। एक दो जगह अगर उस तरह की बात यदि आएगी भी तो वो भी उस बात को दूर ले जाने के लिए आएगी, मेरी ओर लाने के लिए नहीं आएगी। इस क्षमा याचना के बाद या कि आपको जो निराशा हो सकती है उसकी संभावना के बारे में पहले से क्षमा माँग लेने के बाद मैं कुछ बातें आप के सामने रखना चाहता हूँ।

मैं समझता हूँ कि लेखक हूँ तो ऐसा नहीं है कि मैं साहित्य का पाठक नहीं हूँ और, इसलिए पाठक समाज में या पुरानी शब्दावली अपनाऊँ तो कहूँ कि सहृदय समाज में साहित्य की चर्चा करते समय मुझे ये अच्छा लगता है कि दोनों के बीच जो संबंध है वहाँ से बात आरंभ करना चाहिए। विस्तार से इसकी बात करूँ उसके पहले मैं चाहता हूँ कि पुरानी परिस्थिति और आज की परिस्थिति की तुलना की जाए। आपको ये बताने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे देश में आज भी निरक्षरों की बड़ी संख्या है। आँकड़े जो बताते हैं उसमें विदेशों के हिसाब से कुछ अन्तर भी होता है लेकिन मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि आज भी हमारा देश दो तिहाई निरक्षर है। एक तिहाई जिसे साक्षर गिना जाता है उसकी साक्षरता साहित्य पढ़ने तक जाती है या नहीं, सवाल बना रहता है, लेकिन अभी हम यहीं तक रहें। दो तिहाई देश निरक्षर है तब लेखक क्या कर रहा है, ये जानते हुए कि इस समाज के बीच जिसके लिए वो लिख रहा है, जिसका अधिक से अधिक एक तिहाई उसकी रचना पढ़ सकता है, तब वहाँ वह दो तिहाई की उपेक्षा करना स्वीकार कर रहा है या कि इसको अपनी लाचारी मानकर अपने को एक तिहाई तक सीमित मान रहा है या ऐसा मानता है कि पहले मैं इस दो तिहाई तक बात भी सोचूंगा। इसलिए लेखक बनने से पहले मुझे साक्षरता का विस्तार करने वाला बनना चाहिए। ये इस आँकड़े से आरंभ करके बहुत से सवाल हम उठा सकते हैं और ये सवाल उठते रहे हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भी लेखक ऐसा नहीं मानेगा, ऐसा नहीं सोचता आज, ऐसा करना विशेष रूप से उपयोगी मालूम होता है क्योंकि मुझको लगता है कि बहुत से प्रश्न जो हमारे मन में आज उठते हैं– ऐसे भी प्रश्न जो मुझसे प्रायः पूछे जाते हैं और एक पाठक के नाते हमारे मन में उठते हैं वो इस बुनियादी सवाल से जुड़ें हुए हैं। साहित्य के केन्द्र में मैं सर्जन को नहीं रखता, आत्माभिव्यक्ति को नहीं रखता, मैं सम्प्रेषण को रखता हूँ। दूसरे तक पहुँचना ही सर्जना का मूल उद्देश्य है। मैंने धीरे–धीरे ये बात सीखी लेकिन अब गाँठ बाँध ली है कि जिसे मैंने बार–बार कविता में भी 'मइतर' कहा है, मुझमें जो है उस तक पहुँचना ही कवि को सर्जक की सबसे बड़ी साध और सबसे बड़ी सफलता होती है–अगर वो पहुँचता है। एक समय था जबकि मैं भी आत्माभिव्यक्ति की बात करता था और मानता भी था। लेकिन अब जानता हूँ कि ये आधी सच्चाई है। अभिव्यक्ति भी दूसरे को चाहती है–जिस पर अभिव्यक्ति होती है। अपने पर अभिव्यक्ति नहीं होती। अगर केन्द्र में इस बात को रख लें कि सर्जन का सबसे पहला सवाल संप्रेषण से जुड़ा हुआ है तब हम आज की बहुत सी समस्याओं को, बहुत सी कठिनाइयों को इससे जोड़ सकते हैं। जिनकी पहचान लेखक के नाते मुझे भी होनी चाहिए और साहित्य के पढ़ने वाले या समाज की उपयोगिता के लिए हमेशा ये सवाल बनाये रखते हुए कि उस सहानुभूति का अर्थ क्या है, जब वो न तो उस तक पहुँच सकती

है, न ही उसको सांत्वना दे सकती है, न उसकी स्थिति बदल सकती है। क्या ये निरा एक पार्थक्य नहीं है कि हम उसके साथ सहानुभूति कर रहे हैं। दूसरी ओर हम अगर अल्प संख्यक के लिए लिखना स्वीकार कर लेते हैं तो भी ये एक पाप—पुण्य की संभावना बनी रहती है कि हम देश की अधिसंख्य जनता की तो उपेक्षा कर रहे हैं। जिस अधिकार से हम ऐसा कर रहे हैं ये तो एक स्थायी समस्या है मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं है, किसी और के पास है— ऐसा अभी तक मुझे नहीं पता लगा। लेकिन ये वास्तविक स्थिति है जिसकी पहचान हमें होनी चाहिए। एक वास्तविक व्यथा है जिनका बोध हम सबको होना चाहिए। शायद उसमें से हम स्थिति को परिवर्तित करने का कोई उपाय पा सकें। लेकिन, मैंने कहा था कि मैं पुरानी और नई स्थिति की तुलना करना चाहता हूँ। निरक्षर पहले भी थे, साक्षर भी पहले थे, लेकिन जो अब अन्तर था उसमें बहुत महत्व की बाते ये थीं कि जो पुराने साक्षर भी थे, जहाँ तक काव्य के आस्वादन की बात थी, वो पुस्तक पढ़कर काव्य को ग्रहण नहीं करते थे, सुनकर करते थे। पुस्तक पुराने साक्षर के लिए आवश्यक नहीं थी। वो भी पुस्तक पढ़कर कविता नहीं सुनाता था। कविता तब उसे कंठस्थ होती थी। जबकि आज हम दो तिहाई की उपेक्षा कर रहे हैं। लेकिन समस्याएं दूसरे रूप में भी उनके पास आ सकती हैं। पाठक या कि आलोचक ये कह सकता है कि ये तो मैंने मान लिया कि एक तिहाई साक्षर हैं। उनका एक अंश पढ़ने वाला है इसलिए लिखना तो पहले उनके लिए होगा। लेकिन जो दो तिहाई निरक्षर हैं लिखना उनके बारे में चाहिए। असली भारतवासी तो वही हैं। पहली बार सुनने पर लगेगा कि ये एक संगत तर्क है। सचमुच तो वही लोग हैं और यदि उनकी उपेक्षा नहीं करना चाहते तो उनके बारे में लिखना चाहिए। लेकिन उनके बारे में लिखने का क्या अर्थ है? किसके लिए? अगर उनकी बात हम लिखकर इस एक तिहाई के सामने लाते हैं तो वो एक तिहाई ये कहते हैं कि हम पढ़ते हैं लेकिन हमारी बात देखने के लिए है। दूसरी ओर दो तिहाई जिनकी बात आप कह रहे हैं उसको अगर नहीं पता लगे तो वो ये कहते हैं कि आप हमारी समस्या कैसे समझ सकते हैं? आप तो पढ़े—लिखे हैं, हमारी समस्या आप समझ नहीं सकते और अगर हम लिखते भी हैं, वो उन तक तो पहुँचता नहीं। हमारी सहानुभूति उन तक नहीं पहुँचती। ये तो वास्तविक स्थिति है। मैं ये नहीं कहूँगा कि ये, क्योंकि स्थिति है इसलिए इसको स्वीकार कर लिया जाये, लेकिन ये तो है ही। उसको हम सहानुभूति दे सकते हैं। पहले की स्थिति हमेशा एक सामाजिक स्थिति होती थी। लोग इकठ्ठा बैठकर कविता या कहानी या किस्सा भी सुनते थे। सुनकर ग्रहण करते थे और सुनाने वाला भी हमेशा एक समूह को सुनाता था। अब इस रिश्ते का प्रभाव क्या होता है? इस पर थोड़ा विचार करें। सामाजिक स्थिति में कविता सुनकर ग्रहण की जाती है तो ये तो ठीक है कि जिसका गला अच्छा होगा उसकी कविता सुनने में थोड़ी अच्छी लग सकती है। लेकिन इसका उपाय पुरानी पद्धति में ये भी होता था कि बहुत से कवि अपनी कविता दूसरे से पढ़वाते थे जो अच्छी तरह पढ़ सकता है। आज भी ऐसा होता है। लेकिन आज पढ़ी भी बहुत कम जाती है कविता। लेकिन जिस स्थिति में कविता सुनकर ग्रहण की जाती है, एक तो उसमें जिसको मैंने अभी थोड़ी देर पहले निरक्षर कहा वो भी उस सभा में भाग ले सकता था और, आज भी उसमें इतनी सामर्थ्य है कि वो कविता सुनकर उसका आस्वादन कर सके।

बल्कि उनमें बहुत से ऐसे होंगे और उनसे मेरा परिचय हुआ है, जिनको अक्षर ज्ञान तो नहीं है लेकिन जिनमें संस्कार है, काव्य की समझ है। काव्य के मूल्यांकन में भी वो योग दे सकते हैं, सही प्रश्न पूछ सकते हैं, सही टिप्पणी कर सकते हैं, जबकि साक्षरों में ऐसे बहुत कम होंगे। निरक्षरों की अपेक्षा साक्षरों में ऐसे कम लोग हैं जिनमें साहित्य का संस्कार बना रहे। अक्षर ज्ञान तो है लेकिन और कुछ नहीं है। मेरा विश्वास है कि आपका भी ऐसे लोगों से परिचय हुआ होगा। उस स्थिति में साक्षर होना या न होना कोई मायने नहीं रखता। चूँकि आप कविता सुनकर ग्रहण करते थे और अगर कविता सुनते रहने का संस्कार आप में था तो आप उस सभा में भाग लेने के अधिकारी थे। इतना ही नहीं, काव्य के आस्वादन में इससे भी अंतर पड़ता है कि आप तीसरे को उस कविता में रस लेता हुआ देखते हैं। अगर मैं पुस्तक में एक कविता पढ़ता हूँ तो वो मुझे अच्छी लगती है या बुरी लगती है। दूसरे को कैसी लगी यह मैं नहीं जानता। लेकिन समाज में बैठकर कविता सुनी जाती है तो हमें दूसरे शख्स की जो भी प्रतिक्रिया हुई, उसका भी योग रहता है। एक तो कवि को भी स्वयं तत्काल और प्रत्यक्ष इस बात का ज्ञान होता है कि कविता दूसरे तक पहुँची या नहीं। पहुँची तो जो असली उद्देश्य था संप्रेषण का, वो सिद्ध हुआ या नहीं हुआ। लेकिन जो सामाजिक होते हैं उनको भी एक दूसरे के सुख के अतिरिक्त सुख मिलता है। इस स्थिति में जो कविता प्रस्तुत की जाती है उस कविता का स्वभाव भी इस स्थिति के अनुकूल होता है। ये बात तब बहुत स्पष्ट हो जाती है जब हम दूसरी स्थिति से इसकी तुलना करें। आज की स्थिति में जब कविता पुस्तक में होती है, पढ़ी जाती है या नहीं भी पढ़ी जाती है, पुस्तक में होती है या पुस्तक में रहती है, ताक पर रख दी जाती है। उसमें कविता एक चीज हो जाती है। वाचिक परिस्थिति में यानि मैंने जो पहली परिस्थिति बताई उसमें कविता का आविर्भाव और अस्तित्व उस समाज में ही होता है, जिसमें उसका संप्रेषण भी होता है। उसी समय, वहीं, प्रत्यक्ष आविर्भूत होती है कविता। सब जानते हैं कि ये कविता हुई। तो ये जो कविता होती है, जो एक चीज होती है, जो कहीं भी पड़ी रह सकती है। क्योंकि यह एक चीज हो गई है। इसलिए जब कविता छपने लगती है तो पहले—पहल हम यह प्रश्न भी पाते हैं कि 'किसी की' रचना है। जो रचना हम सुनकर ग्रहण करते हैं, उसको प्रस्तुत करने वाला हमारे सामने था और वह स्वयं जिसकी ये कविता हो या केवल प्रस्तुत करने वाला हो हमें अधिक अंतर इससे नहीं होता। कविता का आविर्भाव यहाँ हुआ। कविता हमारे सामने प्रत्यक्ष हुई यही बात महत्व की थी। कवि कौन है इससे क्या; और अगर वो कविता सुनकर हमारी स्मृति में बस गई तो हमारी ही कविता हो गई। किंचित उसका महत्व और कम हो गया कि उसका कवि कौन था और जिनको मैंने निरक्षर कहा उस समाज में आज भी बहुत से लोग आपको ऐसे मिलेंगे जिनको बहुत से पुराने कवियों की रचनायें कंठस्थ हैं। जो नहीं जानते कि रचना किसकी है लेकिन रचना को जानते हैं, समझते हैं, सुनकर आह्लादित होते हैं, सुनाकर प्रसन्न होते हैं। अभी तक ये संस्कार उनमें बना हुआ है जो नव—साक्षरों में अब नहीं बचा। नई परिस्थिति में जब ये सब प्रश्न महत्व का हो जाता है कि ये रचना किसकी है तब कवि से उसके व्यक्तित्व के विषय में हम बात करने लगते हैं। हम चाहते हैं कि कविता में दिखे कि कवि का व्यक्तित्व क्या है, कहाँ वह कविता में बोलता है। इसके पहले तक हम

उसकी बात नहीं करते थे। कोई कारण भी नहीं था कि हम उसकी बात करें। बल्कि उस पुरानी परंपरा की कविता में जरूरी था कि कवि अपना व्यक्तित्व लाये। उसमें मौलिकता का दोष था, एक दूसरे देश का जिसके समकोटि की स्थिति में कवि ने कहा था, जब किसी ने मौलिकता का प्रश्न उठाया तो उसने कहा कि मौलिकता से बचो और बड़े कवि ने अपने शिष्य से कहा कि मौलिकता से बचो। तब कविता से हम कवि के व्यक्तित्व की बात करने लगते हैं और तभी वास्तव में आत्माभिव्यक्ति की बात उठती है। कवि समझता है कि मेरी कविता में मेरा व्यक्तित्व बोलना चाहिए और तब प्रश्न उठता है कि मेरी अभिव्यक्ति उसमें होनी चाहिए। उसके पहले यह प्रश्न नहीं उठता। इस कोरे सैद्धान्तिक विवेचन को रसवान बनाने के लिए हम इसको भी संदर्भ में रखें कि हमारे देश में ये परिस्थिति कब आई? यानि एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में जाना कब हुआ? मैंने बार—बार कहा है कि हमारे देश में हिन्दी में वाचिक परंपरा के अंतिम सबसे बड़े कवि मैथिलीशरण गुप्त थे। उनकी कवितायें छपीं लेकिन वे थे उसी परंपरा के जिसमें कि कविता सुनाने के लिए रची जाती थी और, उसको सुनाना और सुनना ही वास्तव में उसको अस्तित्व में लाना होता है। और ये कह सकता हूँ कि छायावाद का आरंभ उस दूसरी परिस्थिति से हुआ जबकि लिखी हुई कविता हो जाने के कारण कवि के व्यक्तित्व की अपेक्षा भी बढ़ गई और उसके लिए क्षेत्र भी बन गया। छायावाद की कविता पहली ऐसी कविता है हिन्दी में जिसमें कि कवि का गुरूर भी है, कविता में कवि का व्यक्तित्व बोलता भी है, कवि ये अनुभव भी करता है कि उसकी अभिव्यक्ति उसमें हो रही है। दूसरे शब्दों में कहें कि परंपरा—क्रम टूटने का पहला चरण छायावाद है। आप पूछेंगे कि क्या मैं छायावाद का मूल्यांकन कर रहा हूँ? निश्चय ही मूल्यांकन की एक कसौटी तो ये है कि परंपरा से टूटन की भी, और स्पष्टतः जो भी इस क्रम में थीं, का निश्चय करना भी एक प्रकार का मूल्यांकन है। लेकिन इससे ये समझ नहीं होनी चाहिए, न ये मेरा निजी आशय ही है कि वो इसलिए ऐसी थी कि ऐसा हुआ। वो एक नई परिस्थिति थी संप्रेषण की। उसकी पहचान और उसका स्वीकार उसके अनुकूल एक प्रतिक्रिया थी। जब तक हम इसको नहीं समझते कि कविता का उसके सामाजिक के साथ संबंध कैसे बदल गया था तब तक इस परिवर्तन को हम नहीं समझ सकते। ये तो बिल्कुल संभव है कि हम उसको आर्थिक कारणों के साथ जोड़ना चाहें और ऐसा किया भी गया। ये भी बिल्कुल संभव है कि हम कहें कि रोमांटिक आंदोलन के परिचय का प्रभाव था। यही किया गया। लेकिन इन सबसे वो परिवर्तन पूरी तरह से नहीं समझ में आ सकता अर्थात उसका मूल्यांकन नहीं हो सकता है। अगर हम, जो संप्रेषण की स्थिति में बदलाव आया था, उसको पूरी तरह न समझें। मैंने पश्चिम के रोमांटिक आंदोलन का नाम लिया तो ये बात भी ध्यान रखने की है कि वहाँ पर भी रोमांटिक आंदोलन तभी आरंभ हुआ जबकि वहाँ भी ऐसी स्थिति आई। वहाँ भी वाचिक परंपरा से कवि टूटा और कविता लिखी जाने लगी, और छपने के लिए लिखी जाने लगी। तभी वह रोमांटिक कविता भी आई जिसमें कि कवि के व्यक्तित्व के लिए अपेक्षा भी थी और उसके लिए भी रखी गई थी जिसमें वह और कविता में व्यक्तित्व बोलता था। सारे संसार में, जिस देश में रोमांटिक कविता आई, उसी समय आई जबकि हम एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में जा रहे थे और

इसका संबंध भी था। और जहाँ ये परिस्थिति नहीं आई वहाँ रोमांटिकता भी प्रकट नहीं हुई। तो क्योंकि हम दोनों तरह के प्रमाण पा सकते हैं। जहाँ ये परिवर्तन हुआ, जब ये परिवर्तन हुआ वहाँ जब तक ये परिवर्तन नहीं आया तब तक कविता के स्वभाव में परिवर्तन नहीं हुआ। इसीलिए दोनों तरह की कसौटियों से हम इस तर्क को पुष्ट कर सकते हैं कि संप्रेषण की परिस्थिति बदलने से ये परिवर्तन हुआ। उसके बाद, छायावाद के बाद भी, जो नई प्रवृत्तियाँ आईं उसको भी हम इस परिस्थिति के परिवर्तन से जोड़ सकते हैं। एक काम छायावाद ने कर दिया। इसने व्यक्ति के स्वर के लिए गुंजाईश पैदा कर दी। मैंने गुप्त जी का नाम लिया। उस समय तक कविता में यह संभव नहीं था कि कवि का व्यक्तित्व बोले। उसमें वृत्त काव्य बहुत था जिसमें कवि के व्यक्तित्व के लिए कोई गुंजाईश ही नहीं थी। वर्णन भी था। इसमें थोड़ी सी, बहुत कम गुंजाईश रहती थी। रीति काव्य इसमें प्रधान होता था। छायावाद ने यह संभव बनाया कि कवि का व्यक्तित्व उसकी कविता में बोले। उसने ऐसी भाषा गढ़ी जिसमें की व्यक्ति बोल सके और निःसंकोच बोल सके। नहीं तो उसके पहले अपनी बात कहना कवि के लिए संकोच का कारण हो जाता। ये बहुत बड़ी देन थी छायावाद की। उसने व्यक्ति को वाणी दी। अपने काव्य में कवि के व्यक्तित्व की भी और समाज की ईकाई के व्यक्तित्व की भी और उसके लिए भाषा रची पंत जी ने। एक बार इनकी एक सम्मान गोष्ठी हो रही थी। उसमें कहा था कि हमलोगों ने यानि छायावादियों ने लिखना आरंभ किया। इसके पहले भाषा कहाँ थी। अब ये बहुत बड़ी गर्वोक्ति कि उसके पहले भाषा नहीं थी, और एक ऐसा कवि कह रहा है जिसने कि अपने पूर्वजों से बहुत कुछ सीखा, ग्रहण किया है और खुद स्वीकार भी करता है, वो कह रहा है कि हमारे पहले भाषा कहाँ थी। लेकिन उस बात की सच्चाई इसीलिए है कि जो पंत जी, जैसे वे कहना चाहते थे, उसके लिए भाषा उसके पहले नहीं थी। छायावादियों की भाषा की तरह अगर गुप्त जी या उनके समकालीन या उस परंपरा के कवि लिखते तो उनको संकोच होता और ये लोग अगर वो भाषा लिखते जिसमें कि गुप्त जी या उस परंपरा के कवि लिख रहे थे तो उन्हें लगता कि ये तो पद—रचना है, इसमें हम कहाँ हैं? इसमें व्यक्तित्व कहाँ है? मेरा व्यक्तित्व या कि कोई भी व्यक्ति इस बहाने कैसे बोल सकता है? इसमें इतिहास तो लिखा जा सकता है लेकिन कविता कैसे हो सकती है? काव्यत्व कैसे बन सकता है? कवि का व्यक्तित्व कैसे बोल सकता है? इसके लिए भाषा उन्होंने दी और हमलोगों को, उनके बाद लिखने वालों को वो एक बनी बनाई भाषा मिली। हमारे लिए वो भाषा भी काफी नहीं थी इसलिए कि, उन्होंने व्यक्ति का कुछ कहना तो संभव बना दिया लेकिन, वो व्यक्ति भी बहुत ही विशिष्ट व्यक्ति होता था। साधारण आदमी अपने प्रयोजन जिस भाषा में करता था, उसकी शब्दावली से छायावाद की शब्दावली अब भी काफी दूर थी और हमलोगों का आग्रह ये था कि हम कविता में बात तो कुछ नये ढंग की कहेंगे, कविता से अर्थ तो नये पाएंगे लेकिन, हम शब्दावली ऐसी नहीं चाहते जो कि आम बोलचाल की शब्दावली नहीं है। साधारण से साधारण शब्द लेंगे और अपना जो भी उद्देश्य है, उसी में से निकालेंगे। हम उन्हीं साधारण शब्दों को एक नई अर्थवत्ता देंगे। हमलोगों का ये आग्रह रहा। सफल कहाँ तक हुआ या नहीं हुआ, ये जानना आपलोगों का काम है। लेकिन क्या हमलोगों ने करना चाहा था और

उसका कारण क्या था और कहाँ से वे कारण प्रकट हुए थे, इसकी ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। क्योंकि छायावाद के बाद विशेष रूप से हमारे समय में ये स्थिति आ गई थी कि कविता एक बार फिर साधारण जन तक पहुँचना चाहती थी। उससे पहले जिस वाचिक स्थिति की बात मैंने कही उसमें यद्यपि ऐसा होता था कि निरक्षर लोग भी कविता सुन सकते थे। लेकिन सामन्यतया सहृदय समाज दो में, कम से कम दो में, बँटा हुआ होता था। एक, एक तरह की कविता सुनता था और दूसरा समाज दूसरी तरह की कविता सुनता था। एक को हम लोक साहित्य या लोक काव्य कह सकते थे और दूसरा जिसकी हम अब तक प्रतिष्ठा करते आये हैं। लेकिन ये जो भेद था जो समाज में भी था और समाज के कारण काव्य में प्रतिबिम्बित था, हम इसको स्वीकार नहीं करना चाहते थे। क्योंकि हमारा आग्रह ये था कि इस भेद को हम मिटाना चाहते थे। हम एक समाज चाहते हैं, हम ऐसा समाज नहीं चाहते जिसमें कि कई वर्गों पर समाज भी जीता है, कई वर्गों पर उसका संवेद्य भी विभाजित है और उसके लिए अलग–अलग प्रकार का संप्रेषण होता रहता है। ये स्थिति हमें स्वीकार नहीं है। इसलिए हमें ऐसे शब्द लेने होंगे जोकि सारे समाज में चलते हैं और कोई भी विशिष्ट अर्थ हमें देना है वो भी उन्हीं शब्दों से निकालना होगा। वैसे भी संप्रेषण की नई परिस्थितियों में से ये समस्या और ये माँग और इसके उत्तर देने की विधियां निकलीं थीं।

इसके बाद हमें अपने सामने में रखनी चाहिए संप्रेषण की परिस्थितियों को। इस पक्ष तक उल्लेख करके आपने लक्ष्य किया कि मैं भाषा की बात तक आ गया हूँ। यों एक बार हमलोग भाषा के क्षेत्र में आ जाते हैं तो बहुत से नये प्रश्न भी हमारे सामने आ जाते हैं– संप्रेषण की नई परिस्थिति से जुड़े हुए ही। अपना स्वाधीनता का जो आंदोलन रहा उसका मैं विस्तार से उल्लेख करना चाहता हूँ। सब जानते हैं कि क्या हुआ? राष्ट्रभाषा का आन्दोलन कैसे हुआ? किस भाषा के लिए हुआ? ये आप सब लोग जानते हैं। लेकिन परिस्थिति के साथ वो जुड़कर कैसे स्वयं एक समस्या बनी और कई बहुत सी समस्याएं बनीं, इसकी ओर भी ध्यान जाना चाहिए। आज प्राय: समाज में लोग पूछते हैं कि कविता जन साधारण तक क्यों नहीं पहुँचती? उनकी बात एक हद तक ठीक रहती है। उस तरह नहीं पहुँचती जिस तरह उस वाचिक परिस्थिति में पहुँचती थी, जिसका मैंने उल्लेख किया है। लेकिन ये न पहुँचना क्या है और ये न पहुँचने का कष्ट क्या है और कौन या कौन–कौन इसके लिए जिम्मेदार हैं– इसको भी समझना चाहिए। क्योंकि ये भी आज रचना के संदर्भ हैं। देश के स्वाधीन होते ही, एक राष्ट्र बनते ही, जैसे कि राष्ट्रभाषा की जो प्रेरणा थी वो कहीं बिला गई। लोगों ने मान लिया कि राष्ट्र तो अब स्वाधीन हो गया और भाषा संबंधी सारे के सारे आग्रह राष्ट्रभाषा के विकास और विस्तार से हटकर अपनी बोली की ओर मुड़ गये। निस्संदेह राष्ट्रीय आन्दोलन में भी जब भाषाओं के आधार पर भौगोलिक विभाजन की बात होती थी तब इस संभावना को भविष्य में बढ़ाने की एक जमीन तैयार कर दी थी। लेकिन क्यों वो स्थिति आई– इसको अपने सामने हम अभी न रखें। ये स्थिति आई। आज कम से कम हिन्दी का और हिन्दी के उस रूप का जिसे राष्ट्रभाषा कहते हैं, कोई भी समर्थक किसी भारतीय भाषा का विरोध नहीं करता। वो ये मानता है कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। और अब अगर

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की टकराहट किसी भाषा के रूप से होती है तो वो अन्ग्रेजी ही है, जिससे कि टकराहट शायद होनी चाहिए। लेकिन इस रूप में भी अगर इसकी आशा थी कि इन भाषाओं में आपस मे वैमनस्य नहीं पैदा होगा तो वो आशा फलित नहीं हुई क्योंकि वैसी स्थितियां आईं। भाषा के भीतर भी बोलियां थीं और जिन्हें पहले बोलियां मान लिया गया था, उनमें से कुछ का आग्रह हुआ कि हम स्वतंत्र भाषायें हैं और हमारा भी साहित्य रहा है। हमारा इतिहास है, उसका था भी और हमें अलग मान्यता मिलनी चाहिए। सिद्धान्त रूप में यह माना जा सकता है, मैं भी मान लूँगा कि जहाँ भी किसी को लगता है कि यह मेरी भाषा है, इसमें मैं बोल सकता हूँ, तो उसे उस भाषा में बोलने का अधिकार है। लेकिन यह मान लेने से जो राष्ट्रीय स्तर की समस्याएं हैं वह तो हल नहीं होती। वो अपनी जगह बनी रहती है और बनी हुई है, बनी हुई रहेंगी भी अभी। इसलिए मैं उनकी, उनका कोई सरलीकृत रूप आपके सामने प्रस्तुत नहीं करूँगा। जो हुआ है, जैसे हुआ है और जो स्थिति है, वह आपके सामने रख रहा हूँ, क्योंकि हिन्दी में या इन भाषाओं में से किसी भी भाषा में रचना करने का एक संदर्भ ये है। इस स्थिति को मैं और विस्तार से आपके सामने रखना चाहता हूँ। अभी इस समस्या के दो पहलू हैं। एक पहलू है जो, जैसा मैंने कहा– हम अगर मान लेते हैं कि राष्ट्रभाषा हिन्दी की टकराहट अन्ग्रेजी से होती है तो इस स्थिति से पैदा होने वाली और, दूसरी– भारतीय भाषाओं के बीच के आपसी संबंधों से निकलती है। तो पहले मैं अन्ग्रेजी से निकलने वाली समस्याओं का उल्लेख करता हूँ। आज हमारे देश में वास्तविक स्थिति ये है, हम इसे न भी मानें या इसका उल्लेख न भी करें तो वास्तविक स्थिति ये है कि किसी भी भाषा में रचे गए साहित्य की अन्ग्रेजी के सिवाय कोई कसौटी नहीं होती। पहली प्रतिक्रिया पाठक की ये होती है कि अगर कोई अच्छा लेखक है, किसी भारतीय भाषा में सुनते हैं कि हिन्दी में या बंगला में था, तमिल में अमुक अच्छा लेखक है, अच्छा लेखक है तो अन्ग्रेजी में क्यों नहीं लिखता! या तो अच्छा होता तो अन्ग्रेजी में लिखता होता, अन्ग्रेजी में नहीं लिखता है तो शायद अच्छा नहीं है। ये तो स्थानीय लोगों के आग्रह होते हैं। वे अपने किसी एक आदमी को आगे बढ़ा देते हैं कि वास्तव में ये कोई अच्छा लेखक नहीं है– केवल इसलिए कि इसका साहित्य अन्ग्रेजी में उपलब्ध नहीं है। कितने लोग इस देश में पढ़े–लिखे लोग, कितने ही इस पूर्वग्रह से ग्रस्त हैं कि अगर कोई चीज अन्ग्रेजी में नहीं आई है तो वह मान–सम्मान के योग्य नहीं है। आप कल्पना नहीं कर सकते। बहुत से तो ऐसे लोग हैं जिन्होंने कहा है कि जब तक कि वह अन्ग्रेजी में अनुदित नहीं होती, मैं उसे नहीं पढ़ता। कुछ इनमें से ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि अन्ग्रेजी में भी अगर वो इस देश में छपी है, विदेश में नहीं छपी तो मैं उसको पढ़ने लायक नहीं मानता। यानि वे दावे के साथ कहते हैं कि इस देश के साहित्य की भी कोई कसौटी इस देश में, इस देश के आधार पर नहीं हो सकती। कसौटियाँ सब बाहर हैं। लेकिन वही लोग इस देश के साहित्य से जमीन के साथ जुड़ने वाली प्रामाणिकता की माँग करते हैं। अब कोई पूछे कि वो कैसे जान सकते हैं कि वो प्रामाणिकता इसमें है या नहीं! इनके पास तो कोई कसौटी ही नहीं है। स्थिति यही है कि विदेश से कसौटी लाकर इस देश के साहित्य की इस जमीन के साथ जुड़ी हुई प्रामाणिकता की खोज की जाती है। मैंने ऐसे अन्ग्रेजी समाजों में एक से

अधिक बार कहा है कि संसार के इतिहास में किसी देश में साहित्यकार के लिए इतना बड़ा संकट नहीं हुआ, जितना इस देश में आज है, क्योंकि इस देश में एक तरफ तो ऐसी प्रामाणिकता की बात करते हैं जो कि जमीन के साथ जुड़ती है। लेकिन उसकी कोई कसौटी इस देश में न हमने बनाई है, न इस देश में बनी हुई कोई कसौटी हमें स्वीकार है। यहाँ तक हुआ है कि भारतीय, मैंने जो इतिहास देखे हैं, भारतीय भाषा के साहित्यों के इतिहास में जिनमें किसी कवि के बारे में कहा गया है कि उसने राष्ट्रीयतावादी कविताओं की रचना की और उन कविताओं की प्रशंसा में कहा गया है कि इस कवि को पानी से प्रेरणा मिली। इस बात का इस आलोचक के लिए कोई महत्व नहीं है कि ये आदमी इस देश के स्वाधीनता संघर्ष से जुड़ा हुआ था। उसमें उसने कष्ट भोगा और उसी में से वो व्यथा पैदा हुई, जिसने राष्ट्रीयता का समर्थन करने वाली कविता लिखाई। इस सब का उसके लिए कोई महत्व नहीं है जबकि माँग वो इस देश से जुड़ी प्रामाणिकता की करते हैं। लेकिन जहाँ से उस कविता को प्रामाणिकता मिलती, उसका उसके लिए कोई महत्व नहीं है। लेकिन दो तीन सौ साल पहले के एक अन्ग्रेज कवि में, क्योंकि वैसा ही देशभक्ति का स्वर उसको मिल गया था, इसलिए मान लेता है कि इसको वहाँ से प्रेरणा मिली। ये तो वैसा ही हुआ कि अगर मुझे भूख लगती है तो मेरी भूख को मेरे भोजन से न जोड़ा जाय और ये कहा जाय कि कहीं विदेश में किसी ने दो सौ साल पहले उस भूख के बारे में कुछ लिखा था, जरूर वहीं से उसको प्रेरणा मिली होगी। लेकिन इस हास्यास्पद स्थिति में आज हम हैं और हमारे पढ़े–लिखे लोग, हमारे प्रसिद्ध...। ***(इस अधूरे वाक्यांश के बाद टेप में तकनीकि खामियों के चलते यह महत्वपूर्ण अभिभाषण लिप्यंतरित नहीं हो सकता। इसका हमें खेद है।)***

•••

सबाल्टर्न अध्ययन, राष्ट्रवादी इतिहासलेखन और रामविलास शर्मा का जाति चिंतन

***अजीत कुमार तिवारी**

बीसवीं सदी के आठवें दशक में दक्षिण एशियाई इतिहास और समाज का अध्ययन करने वाले इतिहासकारों का एक समूह अकादमिक परिदृश्य पर उपस्थित हुआ, जिसने 'सबाल्टर्न स्टडीज' ग्रंथमाला के अंतर्गत समूहबद्ध होकर इतिहास की एक समांतर वैकल्पिक धारा को विकसित करने का दावा किया। इनके अनुसार औपनिवेशिक दासता से ग्रस्त या उबर चुके राष्ट्र में राष्ट्रवादी इतिहास का लिखा जाना जातीय गौरव का प्रतीक बन जाता है। उपनिवेश विरोधी चेतना के निर्माण हेतु समृद्ध विरासत को पुनरुज्जीवित करने का ही प्रयास राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा किया जाता है। इस विचारधारा ने जातीयता और राष्ट्र की मूलभूत अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। इन्होंने समस्त राष्ट्रवादी इतिहास लेखन को अभिजनवादी कहकर अपर्याप्त घोषित कर दिया, साथ ही स्वातंत्र्योत्तर भारत के आधिकारिक इतिहासकारों के समक्ष चुनौती रखी कि वे औपनिवेशिक भारत और स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास को उस साधारण जनता के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करें जिनकी राष्ट्रीय चेतना और प्रतिरोध का नेतृत्व हमेशा अभिजात प्रभावशाली राष्ट्रीय नेताओं द्वारा किया गया।[१] यदि इतिहास लेखन एक सांस्कृतिक कर्म है तो 'अभिजन' की संस्कृति के समानांतर 'सबाल्टर्न' संस्कृति को पटल पर लाकर स्थापित करने का प्रयास इन लेखकों द्वारा किया गया। 'सबाल्टर्न' मिलिट्री के निचले ओहदे के अधिकारी के लिए व्यवहृत शब्द है। कालांतर में अर्थविस्तार पाकर यह शब्द अधीनस्थता का द्योतक बन गया। इतालवी विद्वान अंतोनियो ग्राम्शी ने अपनी रचना 'प्रिजन नोटबुक्स' में सबाल्टर्न पद की स्वसंदर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है।[२] सामाजिक–राजनीतिक चिंतन के क्रम में 'सबाल्टर्न' पद का प्रयोग ग्राम्शी ने समाज के गौण, दलित तथा उत्पीड़ित लोगों के लिए किया।[३] उपनिवेशित भारत में (और आज भी) स्त्री, किसान, खेतिहर मजदूर, शरणार्थियों तथा किंचित अल्पसंख्यकों की स्थिति इस 'सबाल्टर्न' पद के तहत रेखांकित की जाती रही है। रंजीत गुहा, पार्थ चटर्जी, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, शाहिद अमीन, सुदीप्त कविराज जैसे इतिहासकारों ने परंपरित इतिहासलेखन को इस 'सबाल्टर्न' परिप्रेक्ष्य में विनिर्मित किया। माना गया कि राष्ट्र यदि किसी के लिए प्रगति और गौरव का विषय होता है तो किसी के लिए शोषण और उत्पीड़न का भी। ऐसे लोगों के लिए एक राष्ट्र की वृहद अस्मिता में खुद को होम कर देने तथा उसे अपनी नियति मान लेने के सिवा और कोई विकल्प नहीं बचता।[४] इस प्रकार राष्ट्रीय इतिहास की मुख्यधारा से विवर्जित इन 'सबाल्टर्न' समूहों के लिए राष्ट्र के तिलिस्म को तोड़ना अपरिहार्य हो गया। ऐसा जातीयता की अवधारणा को प्रश्नांकित

*हिन्दी विभाग : दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, संपर्क : 09211063480

किये बिना संभव न था। जातीयता की अवधारणा पर सर्वप्रथम व्यवस्थित विचार करने वाले अर्नेस्ट रैनन ने जाति को आत्मा की भाँति एक आध्यात्मिक सिद्धांत माना है। हालांकि इस आत्मा के वस्तुगत स्वरूप का रैनन ने स्पष्टत: उल्लेख नहीं किया है।[५] जोसेफ स्तालिन ने वस्तुनिष्ठ राजनीतिक सिद्धांत के रूप में जाति को सामान्य भाषा, सामान्य संस्कृति, सामान्य आवास भूमि तथा सामान्य आर्थिक संबंध के साथ एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया में उद्‌भूत संकल्पना के रूप में परिभाषित किया है।[६] पूर्वजों की साझी विरासत को संरक्षित रखकर तथा स्वेच्छा से साझे तौर पर झेले गये सुख–दुख के अनुभवों की प्रक्रिया में जातीय चेतना निर्मित होती है। जाति के संदर्भ में अर्नेस्ट रैनन और जोसेफ स्तालिन के सम्मिलित विचार एक लगभग मुकम्मल परिभाषा को संभव बनाते हैं। जाति वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ तत्त्वों के समेकित योग में ही परिभाषित की जा सकती है। जातीय चेतना का इतिहासबोध से गहरा संबंध होता है। रामविलास शर्मा ने जातीयता की अवधारणा का विवेचन करने के क्रम में जाति, राष्ट्र एवं बहुजातीय राष्ट्र के अंतस्संबंधों को रेखांकित किया है। रामविलास शर्मा की जातीयता संबंधी चिंतन का दार्शनिक आधार मार्क्सवादी है, तथा स्तालिन की अवधारणा का उन पर गहरा प्रभाव है। रामविलास जी ने भाषिक–सांस्कृतिक घटक के साथ जाति के सामाजिक–आर्थिक पहलुओं पर भी गंभीर चिंतन किया है। राष्ट्र को जातियों के समुच्चय के रूप में व्याख्यायित करने के लिए उन्होंने 'बहुजातीय राष्ट्र' पद का व्यवहार किया है। उन्होंने इसे लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत देखते हुए आदिम व्यवस्था से वर्तमान अवस्था तक विश्लेषित किया है। मसलन, आदिम साम्यवादी व्यवस्था में मनुष्यों का सामाजिक गठन 'गण' होता है। सामंती व्यवस्था में मनुष्यों का सामाजिक गठन 'जन' होता है। जिन क्षेत्रों में वे रहते हैं वे 'जनपद' कहलाते हैं। व्यापारिक पूँजीवाद के विकास के साथ छोटे बड़े भूस्वामियों के अंतर्विरोध के साथ कारीगर और व्यापारी का अंतर्विरोध जुड़ जाता है। इस समय अनेक जनों से मिलकर एक जातीय प्रदेश बनता है। जनपदों अथवा प्रदेशों के बीच काफी समय तक विनिमय का चलन हुआ तो वे एक राष्ट्र के अंग बन जाते हैं। जातीय निर्माण के दौर में जनपदों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता, वे बने रहते हैं, उनकी स्वतंत्र भूमिका समाप्त हो जाती है।[७] इसी प्रकार राष्ट्र निर्माण के दौर में जातियों का अस्तित्व बना रहता है, उनकी स्वतंत्र भूमिका समाप्त हो जाती है। इन जातियों का संघीय सहअस्तित्व ही बहुजातीय राष्ट्र की आधारशिला है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी इतिहासबोध पर अभिजात वर्ग की विचारधारा के तहत लिखे गए आधिकारिक इतिहास होने का आरोप लगाया है। भारतीय औपनिवेशिक कालखण्ड का इतिहास, राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि उनके बहस का आधार है। निम्नवर्गीय प्रसंग के संपादकीय में शाहिद अमीन और ज्ञानेंद्र पाण्डेय ने इस पूरी प्रक्रिया को रेखांकित किया है : ''हिंदुस्तान का राष्ट्रीय आंदोलन एक बहुत बड़ा और विस्तृत आंदोलन था। यह एक बहुमुखी प्रक्रिया थी जिसमें विभिन्न वर्ग, समुदाय, जातियाँ और क्षेत्र अपनी–अपनी विशिष्ट भूमिका में दृष्टिगोचर हुए। अन्य कई देशों की तरह भारत के राष्ट्र–निर्माण कार्य में भी प्रवृत्तियाँ, विचारधाराएँ, कामनाएँ और प्रयास आपस में टकराये, कुछ तात्कालिक तौर पर विजयी हुए और कुछ छोटे या फिर लंबे अरसे के लिए परास्त हो गये। लेकिन हमारी राष्ट्र–निर्माण क्रिया पर इस

द्वंद्व की छाप रही है और आज भी है– जैसी कि प्रत्येक राष्ट्र के निर्माण में रही है। कुछ ऐसे ही ख़यालों को लेकर सबाल्टर्न स्टडीज (निम्नवर्गीय प्रसंग) के लेखन का कार्य आरंभ हुआ था। कहना न होगा कि शुरू से ही हमारा ध्यान जनता की क्रियात्मक भूमिका की ओर आकृष्ट हुआ। किसी भी समुदाय या समाज के गठन में– और इसमें राष्ट्र की भी गिनती होनी चाहिए– केवल अभिजात वर्ग का ही हाथ नहीं होता। जमींदार की शानो.शौकत के लिए असामी जरूरी हैं और लोकप्रिय राष्ट्रवादी नेता के लिए साधारण जनता। कोई भी समाज केवल अभिजात वर्ग का समाज नहीं हो सकता और हमारी राय में किसी भी समाज का इतिहास सिर्फ उसके अभिजात वर्ग का इतिहास नहीं हो सकता।''[८] सबाल्टर्न अध्ययन में जातीय.राज्य तथा पूँजीवादी राष्ट्रों की आलोचना तथा राष्ट्रवाद को गर्हित बताने के क्रम में राष्ट्र मात्र को गर्हित और शोषण का प्रतीक ठहरा दिया गया है। रंजीत गुहा, पार्थ चटर्जी और सुदीप्त कविराज आदि इतिहासकारों ने भारत में राष्ट्र की अवधारणा को भ्रामक प्रत्यय माना। उनकी यह धारणा बेनेडिक्ट ऐंडरसन की 'कल्पित समुदाय' की अवधारणा से प्रभावित है।[९] चटर्जी ने माना है कि भारत का एक अखण्ड इतिहास लिखने की जगह उसके खण्डों, टुकड़ों का इतिहास लिखा जाए।[१०] रामविलास शर्मा के विचार में इन इतिहासकारों का जोर हमेशा टुकड़ों पर ही रहा है। जबकि इतिहासकार अलगाव के कारणों की तलाश कर ले, खण्डित सूत्र उसे मिल जाएँ तो एकता के सूत्र का संधान करना कठिन कार्य नहीं रह जाता। यथार्थवादी इतिहासबोध एकता पर जोर देगा, अलगाव और टुकड़ों पर नहीं। सबाल्टर्न अध्ययन के अंतर्गत जाति को 'कल्पित समुदाय' मानने के पीछे एक अन्य कारण है भारत में किसान विद्रोहों का इतिहास। किसान प्रश्न पर गुहा ने घोषित किया कि, ''किसान इतिहास की विषयवस्तु नहीं, स्वयं अपने इतिहास के कर्ता हैं।''[११] गुहा तथा पार्थ चटर्जी जैसे उनके सहयोगियों ने किसानों के विद्रोहों को 'विशुद्ध चेतना' से अनुप्राणित माना है। इसी 'विशुद्ध चेतना' के मुहावरे में उन्होंने किसानों को व्यापक राष्ट्रीय आंदोलनों की मुख्यधारा से अलगाया। स्त्री प्रश्न पर भी सबाल्टर्न इतिहासकार एक मत हैं कि राष्ट्र में स्त्रियों की अपनी एक स्वतंत्र सामुदायिक अस्मिता है। पार्थ चटर्जी 'राष्ट्र और उसकी महिलाएँ' में व्यक्त स्थापनाओं द्वारा घोषित करते हैं कि, राष्ट्र के इतिहास के अंतर्गत स्त्रियों का इतिहास न लिखा जाना उनके साथ विश्वासघात है।[१२] यहाँ रामविलास शर्मा ने 'सबाल्टर्न अध्ययन' के उक्त दृष्टिकोण के पार्श्व में साम्राज्यवादी हितों को लक्षित किया है। दरअसल साम्राज्यवाद को सीधी चुनौती जातीय संस्कृति से ही मिलती है। जातीयता खण्डित होगी तो जातीय संस्कृति भी निर्मूल हो जायेगी और आसान हो जायेगा वैश्विक पूँजी का पर–राष्ट्रों, खासकर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में प्रवेश।

रामविलास शर्मा ने सबाल्टर्न अध्ययन की आलोचना के क्रम में विशुद्ध किसान चेतना को बेमानी माना है। दरअसल राष्ट्र निर्माण में किसानों और मजदूरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किसान आंदोलनों में भी किसान अपने सहयोगियों के साथ साम्राज्यी सत्ता से टकराये थे। ऐसे में विशुद्ध चेतना की बात कर किसानों के आंदोलनों को मजदूरों से अलग रखना उनके आंदोलन को कमजोर करना है, उनके साथ विश्वासघात है।[१३] सबाल्टर्न इतिहासकारों ने भारत के साथ बंगाल के लिए भी 'नेशन' का प्रयोग किया है। रामविलास जी ने 'नेशन' और 'पैत्रिया' जैसे

शब्दों के साथ भारत जैसे बहुजातीय राष्ट्र की अवस्थिति को समझने के लिए 'मल्टीनेशनल पैत्रिया' (बहुजातीय राष्ट्र) के व्यवहार का विकल्प रखा है।[१४] जाति के वस्तुगत स्वरूप को विवेचित करते हुए स्तालिन ने उसके गठन के कुछ मूलतत्त्वों की पहचान की है। स्तालिन के अनुसार, सामान्य आवासभूमि, सामान्य संस्कृति, सामान्य भाषा, सामान्य ऐतिहासिक परंपरा के साथ मुख्य बात यह है कि जातियाँ आधुनिक पूँजीवादी विकास की देन हैं। पूँजीवाद के अभ्युदय से पहले जातियों की कल्पना नहीं की जा सकती। स्तालिन के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में ही जातियाँ अपनी स्वेच्छा से एक संघ बनाती हैं तथा इस प्रकार बहुजातीय राष्ट्र का निर्माण होता है।[१५] रामविलास जी यहाँ नोट करते हैं कि बहुजातीय राष्ट्र की बात अधिकतर लोगों को भ्रामक और गढ़ी हुई चीज लगती है, इसका प्रमुख कारण है कि राष्ट्र और जाति में अंतर वे नहीं कर पाते। भारतीय संदर्भ में मूल समस्या 'नेशन' पद के व्यवहार में है। 'नेशन' का अनुवाद 'राष्ट्र' करके अक्सर स्तालिन का हवाला दिया जाता है– कि राष्ट्र की केवल एक भाषा, एक राष्ट्र–भाषा होती है अतः भारत कोई राष्ट्र नहीं है। रामविलास शर्मा के अनुसार, ''इस समझ से दो नतीजे निकलते हैं, १. भारत में कई भाषाएँ बोलने वाले अनेक राष्ट्र हैं, इसलिए इन सब को अलग हो जाना चाहिए, पहले अंग्रेजों ने इन्हें जबर्दस्ती एक राज्य में शामिल कर लिया था, अब वही काम हिंदी भाषियों की दिल्ली सरकार कर रही है तथा, २. भारत एक राष्ट्र है, पहले उसकी एक भाषा संस्कृत थी, अब हिंदी है। इसलिए हिंदी (या संस्कृत) को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं के व्यवहार पर रोक लगानी चाहिए। पहली तरह का नतीजा वामपंथी अतिवादी निकालते हैं, दूसरी तरह का हिंदू राष्ट्रवादी। दोनों का आधार यह मानना है कि भारत बहुजातीय राष्ट्र नहीं है।''[१६] सबाल्टर्न अध्ययन में जाति और राष्ट्र के अर्थबोध तथा अंतस्संबंध की स्पष्टता का सर्वथा अभाव है। यह अकारण नहीं है। रामविलास जी ने इसके कारणों की पड़ताल की है। दरअसल भारत में जाति शब्द का चलन कई भाषाओं में 'कास्ट' और 'नेशन' दोनों के लिए होता है। संदर्भ के साथ उसका अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती। मान लीजिए, आप कहते हैं, भारत में अनेक राष्ट्र हैं। जैसे जिन्ना और सावरकर दो राष्ट्र होने की बात करते हैं। लेकिन अनेक राष्ट्रों वाले इस भारत को आप कोई सामाजिक इकाई मानते हैं या नहीं– मूल प्रश्न तो यह है। सामाजिक इकाई जाति ही हो सकती है। 'राष्ट्र' शब्द का अंग्रेजी में कोई यथेष्ट पर्याय नहीं है। प्रदेश में रहने वाली जातियाँ 'नेशन' हैं और सब प्रदेश को मिलाकर भारत के सारे लोग भी नेशन हैं। अंग्रेजी में पैट्रिऔटिज़्म (देशभक्ति) शब्द है परंतु जिस मूल शब्द से यह पैट्रिऔटिज़्म बना है, वह पैट्रिया शब्द व्यवहार में नहीं आता। फ्रेंच में 'पात्री' शब्द 'स्वदेशी' के लिए प्रचलित है। यह 'पात्री' शब्द राष्ट्र के बहुत निकट है। लिखने वाले जाति और राष्ट्र शब्दों का व्यवहार करें या उनकी जगह 'नेशन' और 'पैत्रिया' शब्दों का व्यवहार करें तो विचारों की बहुत.सी उलझनों से बचा जा सकता है।[१७] इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो सकेगा कि स्तालिन ने 'नेशन' की जो व्याख्या की है, वह एक स्थायी मानव समाज की व्याख्या है। यह मानव समाज किसी भूमिखण्ड पर ही रहता है। पर व्याख्या का लक्ष्य मानव समाज है, भूमिखण्ड नहीं। राष्ट्र से भूमिखण्ड का बोध भी होता है, इसलिए स्तालिन की व्याख्या में नेशन के लिए राष्ट्र का व्यवहार अनुचित है।[१८] रामविलास जी के अनुसार

राष्ट्रवाद को शोषणपरक तथा गर्हित अवधारणा मानने का मूल कारण है ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा फैलायी गयी एकजातीय राज्य (नेशन स्टेट) की विचारधारा। कदाचित इसी मान्यता के अंतर्गत स्तालिन की जाति की अवधारणा को राष्ट्र की अवधारणा मानकर उसे विवर्जनात्मक विचारधारा का आधार प्रचारित किया गया। जाति के संदर्भ में मार्क्सवादी अवधारणा पर गंभीर सवाल उठाये जाते रहे हैं। चूँकि सबाल्टर्न अध्ययन का यह दावा है कि उन्होंने मार्क्सवाद की जमीन पर अपने पैर जमाये तथा उसकी सीमाओं को फलाँगकर अपनी समानांतर वैकल्पिक विचारधारा का विकास किया है[१९], अतः सबाल्टर्न अध्येताओं की जातीयता संबंधित अवधारणात्मक विसंगतियों को रेखांकित करते हुए रामविलास शर्मा के प्रतिप्रश्न उल्लेखनीय अकादमिक महत्व रखते हैं।

सन्दर्भ :

१. Said, Edward; foreword in Select Subaltern Studies, ed.- Guha, Ranjeet & Spivak, Gayatri C., Oxford University Press, London & New York, 1998, page-vi

२. Selections from the Prison Notebooks of Antonio Gramsci, Ed- Q, Hoare & G.N.Smith, New York : International Publisher, 1973, page-53

३. See-Subaltern Studies-7; ed. – Chatterjee, partha & pandey, Gyanendra, OUP, 1992, page-64

४. निम्नवर्गीय प्रसंग–१; संपादक : अमीन, शाहिद और पाण्डेय, ज्ञानेंद्र, राजकमल प्र.,१९९५,पृ.९

५. Ranan, Ernest; 'What is a Nation?' (1882) in Nation and Narration, ed.- Bhabha, Homi, Routledge, London & New York, 1995, page-19

६. Stalin, Josef; Marxism and the National and Colonial Question, Kanishka Publishing House, New Delhi, 1991, page-6

७. शर्मा, रामविलास; भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९९६, पृ. ३२३

८. निम्नवर्गीय प्रसंग–१; संपादक : अमीन, शाहिद और पाण्डेय, ज्ञानेंद्र, राजकमल प्रकाशन, १९९५, पृ.७–८

९. Anderson, Benedict; Imagined Communities, Verso, 2003, page- 5-6

१०. Chatterjee, Partha; The Nation and its Fragments, OUP, 1994, page- 113

११. Guha, Ranjeet; Elementary Aspect of Peasant Insurgency in colonial India, OUP, 1983, page 13

१२. Chatterjee, Partha; The Nation and its Fragments, OUP, 1994, page 136

१३. शर्मा, रामविलास; भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश–२, किताबघर प्रकाशन, १९९९, पृ. ३४४

१४. वही, पृ. ७२०

१५. Stalin, Josef; Marxism and the National and Colonial Question, Kanishka Publication House, New Delhi, 1991, page 6-7 rk,

१६. शर्मा, रामविलास; भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, १९९६, पृ. २३०
१७. शर्मा, रामविलास; भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश–२, किताबघर प्रकाशन, १९९९, पृ. ७२०
१८. शर्मा, रामविलास; भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, १९९२, पृ. २३१
१९. निम्नवर्गीय प्रसंग–२, संपादक : अमीन, शाहिद और पाण्डेय, ज्ञानेन्द्र, राजकमल प्रकाशन, २००२, पृ. १०४

•••

शती विशेष :

जनपक्षीय सरोकार के कवि नेपाली

***सुभाषचन्द्र गुप्त**

छायावादोत्तर हिन्दी कविता को जिन कवियों ने कोरी भावुकता, रोमानीपन और वायवीयता की जगह प्रखर वैचारिकता, स्वस्थ भावबोध और सामाजिक दायित्व से जोड़ा, उनमें एक नाम है– गोपाल सिंह 'नेपाली'। लगभग चार दशकों तक नेपाली का कवि जिस तरह सर्जनात्मक धरातल पर सक्रिय रहा, वह उसकी अदम्य जिजीविषा, जनपक्षधरता और नैसर्गिक सृजन–चेतना का परिचायक है। वे अपने दौर के उन थोड़े से अविज्ञापित शब्दकर्मियों में एक थे, जो अपनी शर्तों पर रचनारत रहे तथा अपने समय के अंतर्विरोधों के बीच अपनी सर्जनात्मक गरिमा को बचाए रखे। उनके स्वाभिमानी व्यक्तित्व के पीछे जीवन के कठिन संघर्षों का ताप रहा। उनकी सबसे बड़ी ताकत थी वैचारिक दृढ़ता और उसके प्रति गहरा नैतिक आग्रह। इसीलिए समझौतावादी नकार उनकी नियति बन गयी। नेपाली का कवि किसी काव्यांदोलन का मुँहताज नहीं रहा, लेकिन अपने समय और समाज को लेकर उनके भीतर एक प्रखर वैचारिक आंदोलन जीवनपर्यन्त चलता रहा। यही कारण रहा कि उन्होंने समाज और जीवन के घात–प्रतिघातों को इतना अर्थवान और छविमान बनाकर परोसा है। लेकिन विडम्बना यह रही है कि छायावादोत्तर कविता के मूल्यांकन के क्रम में एक प्रायोजित अभियान के तहत आलोचकों के एक वर्ग ने कुछ कवियों को अनावश्यक रूप से महत्वपूर्ण बना दिया और व्यापक जनपक्षधरता के बावजूद कई कवियों को हाशिए पर ढकेल दिया। वैसे कवियों को राष्ट्रीय चेतना का कवि घोषित किया गया जो वस्तुतः राजकीय चेतना के कवि थे। आलोचकों की इसी गिरोहबंदी की ओर संकेत करते हुए नेपाली ने लिखा है : ***ओ आलोचक! विषघोल नहीं/ साहित्य समझ, सुन, बोल नहीं/ रंगरूटों से कह दे कोई/ मंदिर में पीटे ढोल नहीं/ मत पूछो छलनेवालों से/ मत पूछों जलनेवालों से/ पूछो जनता से और सही/ राहों पर चलनेवालों से/ तू दलबंदी पर मरे/ यहाँ लिखने में है तल्लीन कलम/ पर छोड़े नहीं जमीन कलम।*** इतने कठोर शब्दों का प्रयोग तथा खुली चुनौती नेपाली के अंतर्मन में सामाजिक और साहित्यिक अंतर्विरोधों के प्रति उठनेवाली गहरी वेदना तथा विद्रोह का परिचायक है। निश्चित रूप से ऐसी ही वेदना तथा विद्रोह की मनोदशा में कबीर ने लिखा होगा : ***जाके संग दस–बीस हैं/ ताका नाम महंथ।*** मुक्तिबोध ने उस दौर के कवियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है : ''आधुनिक काल के कवियों ने वास्तव की उपेक्षा नहीं की, नेपाली की कविता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।'' नेपाली ने जब साहित्य–संसार में प्रवेश किया, वह छायावाद का उत्तरार्द्ध और प्रगतिवाद का उत्कर्ष–काल था और प्रयोगवाद के लिए पीठिका बनायी जा रही थी। नेपाली ने छायावाद और प्रगतिवाद का सारतत्त्व ग्रहण किया, परन्तु छायावादी कवि बनने से बाल–बाल

---

*हिन्दी–विभाग, करीम सिटी कॉलेज,जमशेदपुर, झारखण्ड मो. 09430260514

बच गए। इसका मुख्य कारण था अपने जीवनबोध और काव्यबोध के प्रति नेपाली की वस्तुपरक दृष्टि। **उमंग** (१९३३), **पंछी** (१९३४), **रागिनी** (१९३५), **पंचमी** (१९४२), **नवीन** (१९४४), **नीलिमा** (१९४५), **हिमालय ने पुकारा** (१९६३) कवि नेपाली के विविध रचनात्मक पड़ाव हैं और ये तमाम कृतियाँ संकीर्ण मतवाद तथा मूल्यों के प्रदूषण से दूर आत्मीय संवाद कायम करती हैं।

दुनिया, कलाकार को कला–जीवन जीने कहाँ देती? नेपाली का सम्पूर्ण जीवन नमक–तैल की अनिवार्यताओं से जूझता और समय एवं समाज के विरोधाभासों से टकराता सर्जनात्मक निरंतरता तथा गतिशीलता का दहकता दस्तावेज है। जीवन की तात्कालिकता के गहरे दबावों ने उन्हें बार–बार मरोड़ा, पर जीने की शर्तें उनकी रचनात्मक दिशा तय करती रहीं। उन्हें अपनी आर्थिक नियति का पूरा बोध था। लिहाजा श्रम की अनिवार्यता और उसमें निहित सृजन की संभावनाओं का तीव्र अहसास उनके भीतर हमेशा बना रहा : ***रहता हूँ मैं इस धरती पर/ लेकिन न पशु, न परिन्दा हूँ/ मानव बनने की कोशिश में/ अपनी मेहनत पर जिन्दा हूँ।*** नेपाली की कविताओं से गुजरते हुए यह अहसास बार–बार होता है कि जैसे हम रणक्षेत्र में युद्धरत किसी योद्धा को देख रहे हैं। वैसे आजादी के बाद हिन्दी–कविता में नकली कवि–योद्धाओं की एक जमात विकसित हुई है जो प्रायोजित प्रसिद्धि और समृद्धि के आरामगाह में बैठकर कविता गढ़ते रहे हैं। कविता गढ़नेवाले इन कवियों के हाथों में तलवारें तो थीं, लेकिन उनकी तलवारों पर धार ही नहीं थी। हो भी नहीं सकती थी क्योंकि संघर्ष की तलवारें तो विचारों की धार से चमकती हैं। जीवन और रचना के फासले को ज्यादा देर तक छुपाकर रखना संभव नहीं होता। नेपाली गढ़नेवाले नहीं, रचनेवाले कवि थे। उन्हें पाठकों तथा श्रोताओं का जितना स्नेह मिला, एक–दो को छोड़कर कदाचित किसी को मिला हो और यही स्नेह नेपाली को जीने की ऊर्जा देता रहा। यह सर्वविदित है कि घोषणामात्र से ही नेपाली की रचनाओं को सुनने के लिए कवि–सम्मेलनों में श्रोताओं का सैलाब उमड़ पड़ता था और जनता रात–रात भर बिना पलकें झपकाये उनकी कविताओं में अवगाहन करती रहती थी। कविता और जनता का यह संयोग हिन्दी की जनपक्षीय कविता की गौरवशाली विरासत है।

गोपाल सिंह 'नेपाली' मूलतः गीत–कवि थे। गीत–रचनाएँ मानवीय अनुभूतियों का श्रेष्ठतम संगीत है और गीत–रचनाएँ अपनी लघुता की परिधि में मन की जीवनवाही भावनाओं, सपनों और सुधियों को एकाकार कर लेती हैं। उनकी गीत–रचनाओं में गहरा सौंदर्यबोध है, लेकिन यह सौंदर्यबोध सापेक्ष है, चाहे उसकी सम्पृक्ति प्रकृति से हो या जैविक संदर्भों से। उस दौर में हिन्दी के पाठकों के सामने तीन ही गीत–कवियों के नाम थे– हरिवंश राय बच्चन, नेपाली और आरसी प्रसाद सिंह। इनके बाद अंचल, शिवमंगल सिंह 'सुमन' और जानकी बल्लभ शास्त्री आये। कालांतर में बच्चन जी ने अपनी धारा बदल ली। अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में बच्चन जी का जो रूप है, वह उत्तरवर्त्ती रचनाओं में नहीं हैं। आरसी प्रसाद सिंह के गीत संवेदना और जीवनानुभव के लिहाज से बासी होते गये हैं, तो अंचल का स्वर भी 'करील' और 'मृतबेला' में ऐसा बदला कि उनके मूल व्यक्तित्व का अता–पता ही नहीं रहा। शास्त्री जी के गीतों में ऐसी शास्त्रीयता है जिनका रसास्वादन एक वर्ग–विशेष ही कर सकता है। सुमन जी ने कुछ अच्छे गीत लिखें, किंतु

शब्दों की महाप्राणता तथा सांगीतिक योजना की दृष्टि से नेपाली का गीतकार जिस मौलिक उद्‌भावना का रचनात्मक दायित्व पूरा करता दिखायी देता है, वह उनके समकालीनों में नहीं है।

गीत–रचना की अन्तर्वस्तु और शिल्पगत प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से नेपाली के व्यक्तित्व और रचना–कौशल की अलग पहचान है। उनके गीतों में जैसी चेतना का मुक्त विहार है, वैसा ही ऋजु पद–विन्यास। मिलन–वियोग, प्रणय–स्मृतियों की ऊष्मामयी और अलंकृत चित्र–योजना, चिरनवीन कल्पना, प्रकृति–निरीक्षण और उसके अवयवों को ऐसी आत्मीयता एवं विश्वसनीयता नेपाली जी ने दी है कि पाठक के मन–प्राण सहज ही स्पंदित हो उठते हैं। किंतु नेपाली की रचनाओं में छायावाद के प्रसाद की तरह ***हे लाज भरे सौन्दर्य कहो तुम, लुक–छिपकर चलते हो क्यों?*** की कला–भंगिमा नहीं है, वरन् सहज संवेगों की सहज अभिव्यक्ति है। उनकी गीत–रचनाओं में अदम्य जिजीविषा है, जो शिल्प की भूल–भूलैया में पड़े बगैर व्यक्त होती है। नेपाली की गीत–रचनाएँ संबंधों को नया जीवन और जीवन को नयी ऊर्जा देकर मानवीय संवेदना को संपूर्णता प्रदान करती हैं। नेपाली की पंक्तियाँ उपर से महज भावुकता के सिवा कुछ नहीं लगती, पर गीत की समाप्ति पर सर्वथा एक नई आकृति का निर्मल भावबोध ठहरा दिखाई देता है : ***इस तुम्हारे–हमारे विरह ने प्रिया/ मजहबों के चलन को जनम दे दिया/ मस्जिदें रास्ते पर खड़ी हो गयीं/ मंदिरों ने हमारा धरम ले लिया/ बादलों की झड़ी में जली फुलझड़ी/ बिजलियों में कमल मुस्कुराते रहें/ दो तुम्हारे नयन, दो हमारे नयन/ चार दीपक सदा जगमगाते रहें।*** या ***जिन्दगी से तुम कहाँ नजदीक हो/साफ दिल में, दर्द में या प्यार में/ तुम मिलोगी जीत में या हार में।*** नेपाली के यहाँ प्रेम जीवन–शक्ति का ही दूसरा नाम है। प्रेम की पहचान यहाँ जीवन की पहचान है। नेपाली की प्रेमपरक रचनाएँ भी समृद्ध रचनात्मकता का प्रमाण देती हैं, जिनमें कहीं भी वर्जना की गांठ नहीं है। यहाँ प्रेमानुभव केवल कला–विनोद के स्तर पर ही ग्राह्य नहीं है, यह सीधे–सीधे जीवन–यथार्थ में डूबने से प्रत्यक्ष होनेवाला रागभाव है। यह रागभाव भाषा में गति और जीवन में हलचल पैदा करता है। यहाँ समय का दंश गायब नहीं है : ***सावन भर नाचा मोर मगर/ बौछार मिली, बादल न मिला/ जीवन भर अखियाँ रोई तो/ जलधार मिली, आंचल न मिला/ पानी में पलकें डूब गयीं / थी आँखों की फूटी गागर/ बरसात उधर, दिन–रात इधर/ खारे पानी का भवसागर/ हर प्यासे की तकदीर यही/ देने को प्यास अमर दे दी/ जब प्यास बुझाना चाहा तो/ जलधार मिली, पर जल न मिला।*** गीत की सृजन–प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी होती है। पहला चरण जिसमें गीतकार अपनी संवेदना को शब्द देता है, दूसरा चरण जिसमें गीत को संगीत में ढाला जाता है और तीसरा चरण जिसमें गीत को स्वर दिया जाता है। इन तीनों चरणों से गुजरने के बाद ही कोई गीत–रचना मुकम्मल होती है। इन तीनों चरणों की गहरी समझ रचनाकार को होनी चाहिए, तभी उसकी गीत–रचना समग्र एवं सम्प्रेषणीय बन पाती है। गीत–रचना की प्रकृति और संरचना गेय तथा नाजुक होती है। इसलिए गीत–रचना के माध्यम से जीवन और समाज के संदर्भों को अभिव्यक्ति देने के क्रम में शब्द, प्रतीक, बिम्ब आदि के प्रयोग में अतिरिक्त सजगता की जरूरत होती है, अन्यथा गीत–रचना का सौंदर्य, प्रभाव और संगीत–तत्त्व क्षतिग्रस्त होगा। नेपाली की गीत–रचनायें अपने स्थापत्य में सुसंगठित हैं। भावानुकूल शब्दों की योजना और

उसके समानांतर गति, यति, लय, विराम आदि का संतुलन ऐसा लगता है मानों शब्दों के भीतर से संवेदना का संगीत फूट रहा हो। लोकरंग में रची–बसी उनकी रचनाएँ नंगे सत्य से सीधे–सीधे टकराने की दुस्साहसिक क्षमता से लैस हैं, इसीलिए मानवीय ऊष्मा और कला की आंतरिक लय के साथ इंसानी जीवन–स्थितियों और रिश्तों को सामने लाती हैं। पूँजीवादी समाज में जीने के उपभोक्तावादी ढाँचे ने आदमी के चारित्रिक गठन, जीवन–दृष्टि और समाज की संरचना को प्रभावित किया है और यही उपभोक्तावादी ढाँचा व्यक्ति–जीवन की अंतर्वस्तु का निर्धारक तत्त्व बना है। विस्तार लेता भोगवाद, लोप होते सामाजिक सरोकार और मनुष्योचित संबंध, चमक एवं रंगीनियों के पीछे शोषण, अन्याय, घिनौनी सौदेबाजियाँ, संवेदनों की मुक्केबाजी और अमानवीयकरण के जटिल रूप रोजमर्रे के जीवन में प्रवेश करते गए हैं। तमाम चीजें मौद्रिक आधार पर तय होने लगी हैं। सामाजिक मौद्रिकीकरण ने एक सहज, सामान्य और संवेदनशील मनुष्य के भीतर गहरे तनाव को जन्म दिया है। यह तनाव वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रत्यक्ष और परोक्ष आकृति के द्वन्द्व के कारण है। परिणामतः जीवन और समाज में पाखण्ड का तेजी से फैलाव हुआ है जिसने सृजनात्मकता, संवेदनशीलता और मानवीय सौंदर्यबोध को अवरूद्ध किया है : ***जग में तो दो ही जने मिले/ इनमें रूपयों का नाता है/ जाती है किस्मत बैठ जहाँ/ पतला कागज चल जाता है/ संगीत छिड़ा है सिक्कों का/ फिर मीठी नींद नसीब कहाँ/ नींदें तो लूटे रूपयों ने/ सपना झंकारों ने लूटा/ बदनाम रहे बटमार मगर/ घर तो रखवालों ने लूटा।*** असीमित संचय और भोग की अंतहीन लालसा ने व्यक्ति को धनपशु बनाकर समाज को आदिम युग की कबीलाई बर्बरता के साँचे में तब्दील किया है। प्रकारांतर से उक्त पंक्तियाँ यह प्रश्न उठाती हैं कि क्या महत्व केवल संचय का है, मनुष्य की संवेदनशीलता, साझी संस्कृति की चेतना और दूसरों के लिये की गयी त्यागशीलता का नहीं? मानव–सभ्यता का उत्कर्ष– पूँजी या पैसा है अथवा जियो और जीने दो का आदर्श? नेपाली की गीत–रचनाओं में व्यक्त अंतर्व्यथा गहरी इसलिए दिखाई देती है कि रचनाकार स्वयं भी समय का भोक्ता रहा है। अपने परिवेश से प्राप्त होनेवाले अनुभवों को उनकी ऐतिहासिक प्रक्रिया में जाँचते–परखते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं का संदर्भ बनाया है। नेपाली समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं, शोषणपरक अनुशासनों–पाखण्डों और सांस्कृतिक वितण्डतावादों पर प्रहार करते हैं और इन्हीं प्रहारों में उनके मानवीय सरोकार और उनके मन की शुभ्रता का पता चलता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक त्रासदी से तीखी जिरह करती हुई नेपाली की गीत–रचनाएँ नारी की अभिशप्त नियति को सामने लाती है। पुरूषसत्तात्मक पारिवारिक संरचना के बनाये रखने में परंपरा, कानून, अर्थतंत्र, धर्म की व्याख्याएँ, सहयोग एवं शक्ति देती रही हैं। यह मान लिया गया है कि स्त्री एक सम्पत्ति है और उसे अर्जित किया जा सकता है। चूंकि उसे सम्पत्ति माना गया, इसलिए उसपर किया जानेवाला प्रत्यक्ष या परोक्ष अत्याचार भी जायज माना गया, तो दूसरी ओर करुणा, दया, ममता, समर्पण, प्रेम, नैतिकता की अपेक्षा भी की गयी : ***मंत्र पढ़े सौ सदी पुराने/ रीति निभाई, प्रीति नहीं/ तन का सौदा करके भी/ पाया मन का मीत नहीं/ वेद–शास्त्र थे लिखे पुरूष के/ मुश्किल था बचकर जाना/ हारा दाँव बचा लेने को/ पति को परमेश्वर***

माना/ कहने को सारे अपने थे/ पर दिन–दुपहर के सपने थे/ मिली नाम पर कोमलता के/ केवल नरम कंकड़ियाँ रे। घरेलू दुनिया से उपजा दुखबोध किस तरह सार्वजनिक दुखबोध का पर्याय बन जाता है– उसे देखने के लिए नेपाली के गीत–संसार से साक्षात्कार जरूरी है। नेपाली ने जिस समय चिन्तन और सृजन की दुनिया में प्रवेश किया, उस समय देश में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष हर स्तर पर चल रहा था। एक गुलाम देश में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष सर्वश्रेष्ठ राजनीति होती है और न्यूनतम राजनीति भी। वस्तुतः राजनीति से उनका रिश्ता मुख्यतः कलमजीवी का रहा। यह रिश्ता भी महत्वपूर्ण होता है क्योंकि साहित्य और राजनीति के परस्पर संबंधों का अनुशीलन कर हम उस समय के तथा समकालीन भारत के बुद्धिजीवियों और राजनीति के बीच के रिश्तों को तुलनात्मक रूप से समझ सकते हैं।

नेपाली एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता को जगा रहे थे और दूसरी ओर विदेशी उपनिवेशवाद के देशी आधार स्तंभ जमींदारों–महाजनों का पर्दाफाश भी कर रहे थे। आंतरिक शोषणतंत्र की मदद के बिना बाहरी तंत्र शोषण करने की स्थिति बनाए रखने में सफल हो ही नहीं सकता। विदेशी शासनकाल में शोषणतंत्र तो प्रमुखतः साम्राज्यवादी था, किन्तु उसके मुख्य कर्ताधर्ता भारत के सामंती जमींदार थे। कम्पनी बहादुर से लेकर वायसराय तक का शासनतंत्र सामंतों पर टिका रहा। इसीलिए नेपाली भारतीय समाज को सामंती और ब्रिटिश उपनिवेशवाद दोनों के शोषण एवं उत्पीड़न से किसानों–मजदूरों, दलितों, स्त्रियों और श्रमजीवी जनता की मुक्ति के लिए हुंकार कर रहे थे : ***जो जीवन अपमानित ही है/ उसका भी क्या मोह करोगे?/ रौंदें–कुचले आज जा रहे/ फिर कब तुम विद्रोह करोगे/ यहाँ सुखी हैं थोड़े मानव/ ज्यादे मानव यहाँ दुखी हैं/ चलो दूर सखियों को छोड़ों/ तुम दुखियों की पीड़ा हर दो/ ऐसी भी क्या सृष्टि कि जिसमें/ जग–जीवन की गलत नींव हो/ ऐसी भी क्या दुनिया जिसमें/ जो पीड़क हो, चिरंजीव हो/ बढ़ो लगा दें आग चिता पर/ आज गुलामी को जलना है/ बढ़ो गीत विप्लव का गाते/ थोड़ी दूर और चलना है।*** वर्षों के लम्बे संघर्ष के बाद आजादी मिली, लेकिन स्वतंत्रता के बाद विकास एवं उत्कर्ष के सारे सपने कर्पूर की मानिंद शून्य अंतरिक्ष में विलीन होते गए हैं। आजादी का लाभ मु ीभर लोगों को मिला है और श्रमजीवी जनता समाज और शासन के हाशिए पर सहमी–ठिठकी, तब से लेकर आज तक पड़ी है। ऐसे में नेपाली का बेचैन कवि स्वराज्यरूपी घनश्याम से प्रश्न करने को विवश हुआ है : ***रसभरी तुम्हारी ये बुंदिया/ कुछ यहाँ गिरी, कुछ वहाँ गिरी/ खूब डूब नहाए महल–महल/ कुटिया न जाने कहाँ गिरी?/ इस मस्त झड़ी में बाँसों की/ कमजोर अटरियाँ प्यासी है/ क्या मौसम है जल छलक रहा/ पर नयी उमरिया प्यासी है।***

उनकी परिकल्पना एक ऐसे राष्ट्र–निर्माण की थी जो जाति, धर्म, वर्ण आदि की संकीर्णताओं और साम्राज्यवादी शोषण से मुक्त समानता पर आधारित हो। आजादी के बाद यानि १९४७ के सितम्बर में लिखी गयी एक महत्वपूर्ण कविता की रोशनी में उनके राष्ट्र–निर्माण की अवधारणा को समझा जा सकता है : ***स्वराज्य के विधान में नवीन राग चाहिए/ कि अर्थ का, जमीन का समान भाग चाहिए/ स्वतंत्रता मिली हमें कि देश में सुराज हो/ मनुष्य एक आज हो कि वर्ग एक आज हो?/ समाज के लिए समाज का अखण्ड राज हो/ समाज पर कभी***

रहे न व्यक्ति की प्रधानता/ हो समाज–राज में मनुष्य की समानता/ अलग–अलग पुकार हो न व्यक्ति–व्यक्ति के लिए/ स्वतंत्रता रहे कि दर्द लिख सकें, कि कह सकें/ विधान हो कि राज भी किसी को न सता सके/ मनुष्य मांगता यही, यही मनुष्य माँगता। विश्व के साम्राज्यवादी देश में जहाँ अछोर समृद्धि है और तीसरी दुनिया कि देशों में जहाँ घनघोर अभाव तथा अंधकार है, के बीच एक चालाक किस्म का तंत्र काम करता है। पूँजीवादी अवधारणाओं को फैलाने के लिए हर स्तर पर एजेन्सियां तैयार की जाती रही हैं– कहीं धर्मप्रचारक तो कहीं समाज सेवी संगठनों के रूप में, कहीं सांस्कृतिक कीर्तन मंडली के रूप में तो कहीं कलावादी साहित्यिक संगठनों के रूप में। गोपाल सिंह 'नेपाली' के दौर में मुखौटाधारी मानवतावादी संगठनों की छद्म गतिविधियां जोरों पर थी और इन संगठनों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़कर अनेक रचनाकर्मी और संस्कृतिकर्मी भी भौतिक सुखों को हासिल करते हुए पूंजीवाद की सेवा कर रहे थे। राजनीतिक चरित्रहीनता, कागजी कार्यनीतियों, साम्राज्यवादी देशों के षड्यंत्रों और इनमें शामिल देश की मुखौटावादी शक्तियों की गहरी पहचान नेपाली को थी। इसीलिए उन्हें सत्ता के मद में चूर राजनेताओं को चेतावनी देनी पड़ी : ***जो देखे ताज चाँदनी में/ कुटिया का तिमिर नही देखे/ जो झूठी शांति सदा देते/ वह क्रांति समीप नहीं देखे।*** एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह भी है कि नेपाली ने न केवल गांधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी नेहरू की अर्थनीति और राजनीति का विरोध किया, बल्कि गांधी के आध्यात्मिक शिष्य बिनोवा भावे के 'भूदान–आंदोलन' को समाजवादी चेतना को कुन्द करनेवाला षड्यंत्र कहकर तीखा विरोध किया। 'भूदान के याचक' शीर्षक कविता में नेपाली ने बिनोवा भावे की आलोचना कर प्रकारांतर से गाँधीवादी दर्शन से अपनी असहमति व्यक्त की और समाजवादी पक्षधरता की घोषणा की : ***भीख माँगने से निर्धनता/ जाती तो क्या बात थी?/ लेन–देन से क्रांति चली जो/ आती तो क्या बात थी?/ जब–जब याचक भिक्षा लेगा/ निर्धनता को जीवन देगा/ धन की सत्ता अमर करेगा/ साम्यवाद को लाना है तो/ छोड़ धनी, निर्धन से माँग/ माँग देश के लिए भीख तो/ धन–जन मिला, मिलन से माँग।*** यह दस्तावेजी सच है कि गांधी के जीवनकाल में ही गांधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी नेहरू ने सत्य और अहिंसा को सार्वजनिक जीवन में खारिज कर दिया था। कथनी में गांधीवाद को राजकीय संरक्षण एवं महत्व मिला, पर व्यवहार में वह राज्य–व्यवस्था के भ्रष्टाचार, अत्याचार और जनविरोधी दुष्कर्मों का प्रतीक बनता गया है। गांधी के अनुयायियों ने गांधी का नाम बेचा और जमकर राजनीतिक लाभ बटोरा है। गांधीवाद की यह व्यावहारिक छवि उस समय चरम पराकाष्ठा पर पहुंच गयी जब गांधी के दूसरे प्रिय शिष्य बिनोवा भावे ने आपातकाल को 'अनुशासन पर्व' की संज्ञा दे दी।

नेपाली की राष्ट्रीयता का सबसे प्रखर उद्घोष उस समय सुनायी पड़ा, जब देश पर चीन का आक्रमण हुआ। इस दौर में उन्होंने कई अग्निगर्भा रचनाएँ की और अपने को **वन मैन आर्मी ऑफ इण्डिया** कहा। यह वही दौर है जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर वैचारिक टकराव शुरू हुआ था और नागार्जुन जैसे कई साम्यवादी निष्ठावाले लोगों ने पार्टी की सदस्यता छोड़ी थी। नेपाली ने बड़ी स्पष्टता से कहा : ***आजाद रहा देश तो फिर उम्र पड़ी है/ संग्राम बिना जिन्दगी आँसू की लड़ी है/ तलवार उठा लो तो बदल जाये नजारा/ चालीस करोड़ों को हिमालय***

ने पुकारा। जाहिर है, नेपाली की कविताओं में किसी **परशुराम की प्रतीक्षा** नहीं है, बल्कि हिमालय की पुकार पर प्राणोत्सर्ग के लिए चल पड़े कारवाँ की पदचाप सुनाई देती है।

आज विडम्बना यह है कि बाजार केन्द्रित अर्थनीति एवं राजनीति ने समाज के तमाम संस्थानों और सरोकारों का बाजारीकरण कर दिया है। इस प्रक्रिया में वस्तु से व्यक्ति तक का चरित्र और विवेक खरीदा–बेचा जा रहा है। भौतिक सुखों की गहरी भूख और मीडिया की चकाचौंध ने बड़े–बड़े लेखकों–कवियों, यहां तक कि साधु–संतों, पादरियों वं उलेमाओं तक को बाजार तंत्र से जुड़ने के लिए लालायित किया है और वे अपने चिंतन एवं सृजन को एक 'कन्ज्यूमर प्रोडक्ट' की तरह पेश कर मुनाफा कमाने की दौड़ में शामिल हो जाने की समझदारी दिखाने लगे हैं। पूंजीवादी व्यवस्था यह सहन नहीं कर सकती कि ऐसा साहित्य रचा जाए जो व्यवस्था के शोषण व अन्याय के खिलाफ जनता में परिवर्तनकामी चेतना को जागृत करे। पहले संरचनावाद, फिर उत्तर–संरचनावाद और बहरहाल उत्तरआधुनिकतावाद–उत्तरउपनिवेशवाद जैसी अवधारणाओं के जरिए साहित्य और कला की दुनिया से जनवादी मूल्यों और यथार्थवाद को खदेड़ने का प्रायोजित अभियान चलाया जा रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था के लिए जनवादी साहित्य हमेशा चुनौती रहा है। इसलिए सत्ता या तो उनके दमन का रास्ता अपनाती है या लेखकों–कवियों को बहुरंगी प्रलोभनों के जाल में फंसाकर पालतू बनाने की साजिशें रचती हैं। क्या यह सच नहीं है कि आजादी से पूर्व लेखक, कवि, पत्रकार, कलाकार, अध्यापक आदि समाज के 'हिरावल दस्ते' के प्रतिनिधि की भूमिका निभाते रहे हैं, पर बाद के दौर में रचनाकर्मियों और संस्कृतकर्मियों की एक बड़ी संख्या सत्तातंत्र और पूजीतंत्र के साथ गहरे संबंध बनाकर पद, पुरस्कार और आर्थिक लाभ उठाने की तिकड़म में शामिल हो गयी है। आत्मप्रचार, अनुदानित संस्थाओं की महंथी और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए संस्कृतिकर्म एक धंधा बनाया गया है और सत्ताभोगी राजनीतिकर्मियों की तरह खेमेबाजी और चालबाजियाँ शुरू हुई हैं। साहित्य और संस्कृति के सामंत चेहरे बदल–बदलकर संवेदना की अद्भुत बाजीगरी दिखाने लगे हैं। लेकिन जीने का प्रश्न और जीवन–स्थिति के फर्क को समझने की सार्थक कोशिश नेपाली की कविताओं को समय के आमने–सामने उपस्थित करती है। मौजूदा बाजारधर्मी, पुरस्कारधर्मी, इन्टरनेटी, और फटाफटिया रचनाशीलता के दौर में नेपाली की कविताएं सरोकार और संरचना दोनों स्तरों पर हमें सोचने को बाध्य करती हैं। उन्होंने अपने रचनाकर्म को कभी व्यापार नहीं बनाया और न ही सरकारी अनुदानों के लिए कभी समझौता किया। घनघोर आर्थिक संकटों में भी उन्होंने न तो सत्तासीन नेताओं का चारण–गान किया और न सुविधा की वैशाखियों को हासिल करने के लिए नेताओं की खुशामद की। नेपाली का जीवन श्रम, स्वाभिमान और सृजन की गरिमा से आभावान रहा है : ***तुम सा लहरों में बह लेता/ तो मैं भी सत्ता गह लेता/ ईमान बेचता चलता तो/ मैं भी महलों में रह लेता/ मेरा धन है स्वाधीन कलम/ बन जाती है संगीन कलम।***

जटिल होते जा रहे समाज में शब्दों को उपभोक्तावादी होने से बचाने की प्रतिबद्ध कोशिश मनुष्य को मनुष्य बने रहने की जीवन–प्रक्रिया को जीवंत रखती है। शब्दकर्म को गाँव के छज्जों–चबूतरों, चौपालों, खेत–खलिहानों, गर्द–गुब्बारों की शक्तियों से जोड़कार कविता में

रूपान्तरित करना एक ऐसी रचना प्रक्रिया है जिसके बिना सृजन की सत्ता संपूर्ण नहीं हो पाती है। नेपाली का कवि नकली जनतंत्र और नकली आजादी को नग्न रूप में सामने लाता है : ***यदि दूर कुटी के घेरे से/आजादी की परिभाषा है/ गणतंत्र कहो या एकतंत्र / यह सारा तंत्र तमाशा है।*** आज मनुष्य को लोहा–कोयला जैसा संसाधन माना जा रहा है और जनवादी शक्तियाँ बिखरी–बिखरी दिखाई दे रही हैं। ऐसे में नेपाली की कविताएँ चेतना के सिपाहियों को एक नई गोलबंदी के लिए आह्वान करती है : ***हर क्रांति कलम से शुरू हुई, संपूर्ण हुई/चट्टान जुल्म की कलम चली, तो चूर्ण हुई/ हम कलम चलाकर त्रास बदलनेवाले हैं/ हम तो कवि हैं, इतिहास बदलनेवाले हैं।***

नेपाली पूरे कलात्मक ऐश्वर्य तथा संतुलन के साथ यथार्थबोध की छैनी से समय के चरित्र को खोलते हैं। एक ओर शब्दों के सही ताप और अर्थध्वनि के विस्तार के अनुरूप सघन जीवनानुभवों और परिवेश की जटिल असंगतियों को ध्वन्यात्मक तथा अनुगूंजात्मक अभिव्यक्ति दी है। नेपाली की कविताएं जीवन–स्पर्श से निर्मित हैं। कविता में जीवन को ढालने के लिए शब्दों में ही नहीं, जीवन में भी धँसने–पैठने की जरूरत होती है। यह विवेक ही शब्दानुशासन को एक सार्थक एवं सम्यक काव्यानुशासन में बदल देता है।

सन्दर्भ :

- मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. ६८
- नया दृष्टिकोण, सम्पादकीय, अगस्त २००३, पृ. ४
- नंदकिशोर नवल, मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००३, पृ. २३०

•••

शती विशेष :

संग हर शख़्स ने हाथों में उठा रखा है : मंटो की कहानियाँ

***कुमार वीरेन्द्र**

जो क़द हिन्दी में प्रेमचंद का है वही क़द उर्दू में सआदत हसन मंटो का है। मंटो प्रेमचंद से छोटे थे। मंटो ने उतना नहीं लिखा, जितना प्रेमचंद ने क्योंकि मंटो का जीवनकाल छोटा रहा। लेकिन गौर करने की बात यह है कि प्रेमचंद की प्रत्येक कहानी यथार्थपरक स्टैन्ड लेकर आती हो, ऐसा नहीं है। कई भंगिमायें हैं। पर मंटो की प्रायः सभी कहानियाँ यथार्थपरक हैं। इसके लिए मंटो की सराहाना भी जा सकती है और आलोचना भी। हाँ, प्रेमचंद के यहाँ अनुभव वैविध्य है, मंटो के यहाँ नहीं। पर मंटो दारुण सत्य को, वीभत्स यथार्थ को यथातथ्य रखते हैं। मंटो की लगभग प्रत्येक कहानी दारुण यथार्थ से आँख मिलाने का साहस रखती है। ऐसी गूँज पैदा करती है कि वह मानवता के पक्ष में जाए। यथार्थ की दारुणता का पीछा करते हुए मंटो कहीं भी मौका नहीं देते कि दारुणता को छिपा लिया जाय। लेकिन यह भी सच है कि यथार्थ का रूप सामने रखकर वह उसके सामने समर्पण नहीं कर देते। यह संदेश देते हैं कि दारुणता का प्रतिकार भी हो सकता है। मंटो की एक प्रसिद्ध कहानी है 'टोबा टेक सिंह'। कहानी का जो मुख्य पात्र बिशन सिंह है, पागल है। लेकिन यहाँ पागलपन एक प्रतिकार है। यह ठीक है कि बिशन सिंह बिल्कुल असहाय है, पर असहाय चरित्र में ही संवेदनशील चरित्र उभरता है। बिशन सिंह का चरित्र एक प्रतिकार की मुद्रा में, एक विरोध की मुद्रा में विकसित होता है। प्रेमचंद यथार्थ के दारुण रूप को कई बार बचा ले जाते हैं या कोमल बना देते हैं पर मंटो ऐसा नहीं करते। वह मानते हैं कि हमारा संवेदनशील बने रहना प्रतिरोध करने का एक सरल उपाय है।

कुछ लोगों को सआदत हसन मंटो का साहित्य अश्लील और आपत्तिजनक लगता है। कुछ लोगों को मंटो की कहानियाँ झटका मारती सी लगती हैं तो, कुछ को झकझोर देती हैं। कुछ लोगों को मंटो के रचनाकर्म में सनकीपन और आवारापन नजर आता है। ऐसे लोगों के लिए सआदत हसन मंटो ने लिखा है 'जमाने के जिस दौर से हम इस वक्त गुजर रहे हैं, अगर आप उससे नावाकिफ हैं तो मेरे अफसाने पढ़िए। अगर आप उन अफसानों को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो उसका मतलब है कि जमाना नाकाबिले–बर्दाश्त है। मुझमें जो बुराइयां हैं, वह इस युग की बुराइयां हैं। मेरी तहरीर में कोई दोष नहीं है। मुझे जो दोष दिया जाता है दरअसल, वह मौजूदा निजाम का दोष है।' अभिप्राय यह कि मंटो को समाज का कड़वा और जघन्य सत्य सामने लाने में किसी साहित्यिक शुचिता का ध्यान रखना बर्दाश्त नहीं है। समाज के ठेकेदार जमाने की जिन सच्चाइयों को हमेशा ढका–छिपा ही देखना पसंद करते थे, मंटो ने उन्हीं सच्चाइयों को बेपर्दा किया। इसी कारण मंटो को अपने युग का महान अफसानानिगार होने के साथ–साथ एक बेरहम सर्जन भी माना जाता है, जिसने सड़ी–गली मान्यताओं को समाज से निकालने में कभी परहेज

*स. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जी. एल. ए. कॉलेज, मेदिनीनगर, झारखण्ड, मो. 09955971358

नहीं किया। इस रचनात्मक जिद के कारण मंटो को कभी जेल का तो कभी पागलखाने का चक्कर लगाना पड़ा।

जमाने के बागी रचनाकार सआदत हसन मंटो का जन्म समराला, जिला लुधियाना (पंजाब) में हुआ। मंटो ने उच्च शिक्षा के लिए अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में दाखिला लिया। लेकिन बीमारी के कारण वहाँ ज्यादा दिन नहीं टिक सके। लाहौर में 'पारस' और 'मुसब्बिर' में काम किया। मंटो की पहली कहानी 'तमाशा' थी जो जालियांवाला बाग कांड पर केन्द्रित थी, हालांकि पहला कहानी संग्रह 'आतिशपारे' सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ। मंटो की लगभग ४२ (बयालीस) वर्ष की जिन्दगी में तकरीबन १९ वर्ष साहित्यिक रचनाशीलता के थे। इस दरम्यान मंटो ने लगभग २३० कहानियां, ६७ रेडियो नाटक, २२ शब्द चित्र और ७० लेख लिखे। मंटो की रचनाओं पर कई फिल्में भी बनी। आर्देशिर ईरानी की इम्पीरियल कंपनी द्वारा निर्मित भारत की पहली रंगीन फिल्म 'किसान कन्या' की पटकथा और संवाद मंटो ने ही लिखे थे। अशोक कुमार की फिल्म 'आठ दिन' में मंटो ने एक छोटी—सी भूमिका भी अभिनीत की थी।

मंटो को दुनिया का सबसे बदनाम लेखक माना जाता है। इसका कारण है, मंटो ने अपनी रचना का हिस्सा उन पात्रों को नहीं बनाया जो जीवन में सड़क की बायीं ओर चलने के अभ्यस्त थे। जग—जीवन के जो पात्र जीवन के लिए निर्धारित ट्रैफिक रूल्स का उल्लंघन करने के आदी रहे हैं, मंटो ने उन्हें अपनी रचनाओं में प्रिय पात्र बनाया। समाज के मुफलिस, लफंगे, खूनी, व्यभिचारी, आवारा, पागल, दलाल, अय्याश, वेश्यागामी, शराबी, गुंडा—मवाली, लुच्चा, बदतमीज, बदचलन, बदमिजाज, सनकी, जुआरी आदि बेपटरी लोगों को मंटो ने अपनी कहानियों का पात्र बनाया। ऊपरी तौर पर ऐसे पात्रों को देखकर पाठक असहज महसूस करता है। परंतु सच्चाई यह है कि ऐसे बेलीकी पात्रों को केन्द्र में रखकर लिखी गई रचनाएं समाज में व्याप्त गंदगी का आईना हैं। मंटो ने साहित्य की पिटी—पिटाई लीक को लात मार दिया, सभ्य समाज की मानसिक असभ्यता को उजागर किया और अश्लीलता की परिभाषा भी बदल दी। 'काली सलवार', 'ठंडा गोश्त', 'खोल दो', 'खूनी थूक', 'पेशावर से लाहौर तक', 'नया कानून', 'टोबा टेक सिंह' जैसी कहानियां ओ हेनरी की कहानियों की तरह अंत में झटका मारती हैं। सच झटकेदार होता ही है। मंटो ने जो देखा, उसी को सच—सच लिखने का खतरा उठाया। सच बयां करने के कारण मंटो ने पांच बार जेल की हवा खाई। 'काली सलवार', 'बू', 'ठंडा गोश्त', 'धुंआ' तथा 'ऊपर—नीचे और दरम्यान' शीर्षक कहानियों पर मुकदमे चले, सजा हुई, जब्ती हुई। बावजूद इसके मंटो ने बिना किसी लाग—लपेट के कहा कि 'जदीद अदब तरक्कीपसंद अदब या अश्लील साहित्य का (जो कुछ भी यह है) खात्मा करना चाहता है तो सही रास्ता यह है कि उन हालात को खत्म किया जाए जो ऐसे साहित्यों के प्रेरक हैं। मंटो ने अपने ऊपर लग रहे अश्लीलता के आरोपों को खारिज करते हुए कहा कि 'मैं तहजीब, संस्कृति या सोसायटी की चोली क्या उतारूँगा जो है ही नंगी। मैं उसे कपड़े पहनाने की कोशिश भी नहीं करता, क्योंकि वह मेरा काम नहीं दर्जियों का काम है।' मंटो का दिमाग़ हर वक्त काम करने के कारण तपता रहता था। मंटो ने अहमद नदीम क़ासिमी[१] को पत्र (१२ फरवरी, १९३९) में लिखा था कि 'मेरा नार्मल

दर्जा—ए—हरारत एक डिग्री ज्यादा है, जिससे आप मेरी अंदरूनी तपिश का अंदाज़ा लगा सकते हैं।' मंटो की मुँहफट कहानियां, उसके अंदरूनी तपिश की वाह्याभिव्यक्ति हैं, और सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध 'थर्ड डिग्री' की तरह हैं। मंटो को लिखने का व्यसन था और शराब पीने का भी। शराब के कारण मंटो का पूरा जिगर जलकर नष्ट हो गया था और डॉक्टर हैरान थे कि वह जिंदा कैसे है। मंटो ने स्वयं लिखा है कि 'सच पूछो तो जैसे मैं खाता हूँ, उसी तरह कहानी लिखता हूँ। मुझे शराब की तरह लिखने का भी व्यसन पड़ चुका है। मैं कहानी न लिखूँ तो मुझे लगता है जैसे मैंने कपड़े नहीं पहने हैं, नहाया नहीं है या शराब नहीं पी है। अपनी मृत्यु के दिन मंटो ने अपनी बीबी से आहिस्ते कहा था मेरे कोट की जेब में साढ़े तीन रूपये पड़े हैं। उनमें कुछ पैसे मिलाकर थोड़ी सी व्हिस्की मंगा दो।' एंबुलेंस घर के दरवाजे पर खड़ी थी, मंटो ने शराब मांगी, एक चम्मच व्हिस्की मंटो के मुंह में डाल दी गई, लेकिन एक कतरा मुश्किल से हलक के नीचे उतर सका, बाकी शराब मुँह से गिर गई और मंटो अचेत होकर होशो—हवाश खो बैठे। मंटो फिर कभी होश में नहीं आ सके, और यह अंतिम तारीख थी १८ जनवरी, १९५५; मंटो के दुनिया से गुजरने (दिवंगत) पर कुछ भी बंद न हुआ। दुनिया पूर्व की भांति चलती रही। लेकिन तांगे की सवारी कर रहे अफसानानिगार कृष्णचंदर ने जब तांगेवाले को सूचित किया कि मंटो नहीं रहा तो तांगा रुक गया। तांगा—चालक (कोचवान) ने तांगा रोक दिया, पीछे का दरवाजा खोलकर बैठी हुई सवारी से कहा कि आप दूसरा तांगा ले लें, गाड़ी आगे नहीं जाएगी। लाहौर स्थित मंटो की कब्र पर लगे पत्थर पर खुदा है : 'यहाँ सआदत हसन मंटो दफन है, उसके सीने में फने अफसानानिगारी के सारे असरार व रमोज दफन हैं। वह अब भी मानो मिट्टी के नीचे सोच रहा है कि वह बड़ा अफसानानिगार है या खुदा!' यह जो व्यंग्योक्ति है यह खुदा पर नहीं वरन् खुदा के उन बंदो पर है, जिन्होंने मंटो की कहानियों पर तरह—तरह के इल्जाम लगाये। यह पत्थर मंटो ने मृत्यु पूर्व खुद ही खुदवाया था। इन पंक्तियों में खुदा पर भी कम तोहमत नहीं है। खुदा ने मंटो को मात्र बयालीस बरस, आठ महीने और सात दिन उधार दिये थे, परंतु मंटों ने अपने पात्रों को सदियाँ दी हैं, बावजूद इसके कि जीवन के लगभग दस वर्ष अदालतों के, कुछेक महीने पागलखाने के और अस्पताल के ही चक्कर लगाने में बीत गए। अत्यंत यातनाप्रद ज़िन्दगी के बावजूद मंटो का रचनात्मक तेवर कभी नरम नहीं हुआ। अफ़साने मंटो के दिमाग़ में नहीं, जेब में होते थे। दिमाग़ एकदम खाली होता, मगर जेब भरी होती और अफसाने अपने आप ही उछल कर बाहर आ जाते। बकौल मंटो[२] 'कहानी या आलेख के पहले पृष्ठ के शीर्ष पर ७८६ लिखनेवाला मंटो, काग़जी मंटो है, जिसे आप काग़जी बादाम की तरह केवल अंगुलियों से तोड़ सकते हैं, अन्यथा, वह लोहे के हथौड़ों से भी टूटने वाला आदमी नहीं।'

सन्दर्भ :

१.अहमद नदीम क़ासिमी, मंटो की चंद यादें और चंद खतूत, आजकल, मई २०१२, पृ. १५
२. सआदत हसन मंटो, सआदत हसन की निगाह में मंटो, नया ज्ञानोदय, मई २०१२, पृ. ७

•••

पारिस्थितिक अभिवृत्ति : अंतर्विद्यापरक आयाम

***दिलीप कुमार कौल**

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।
बभ्रूं कृश्णं रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतो ऽ हतो अक्षतो ऽ ध्यष्ठां पृथिवीमहम्।

(हे धरती माँ, तुम्हारे पवित्र पर्वतों और हिमाच्छादित पर्वतों और तुम्हारे घने जंगलों में, तुम्हारे शत्रु कभी न रहें। तुम उर्वर, कृषि के योग्य और सब का पोषण करने वाली बनी रहो। तुम हर रूप लेती हो अर्थात सभी देशों और जातियों को सहारा देती हो। हम पर विपत्ति न आए अर्थात तुम्हारा क्रोध हम पर न बरसे और हम हर प्रकार की उच्चता प्राप्त करें और तुम्हें हर प्रकार से अपनाएं।) यह अथर्ववेद के *भूमिसूक्त* का ग्यारहवां मंत्र है। अथर्ववेद १५०० ई.पू. के आसपास या उससे पहले लिखा गया था। किसी भी आध्यात्मिक परंपरा में यह अपनी तरह का पहला ग्रन्थ है जिसमें धरती के प्रति सम्मान की अवधारणा प्रतिपादित की गई है। समूचे *भूमिसूक्त* में ६३ मंत्र हैं जो धरती माता को समर्पित हैं। वेदों के प्रख्यात अमरीकी विद्वान और विचारक डॉ. फ्रॉली के अनुसार अथर्ववेद का *भूमिसूक्त* पारिस्थितिक विचारधारा के बेहतरीन उदाहरणों में से है जिसमें पृथ्वी को दिव्यता के अवतार के रूप में ब्रह्मांडीय चेतना तथा धार्मिक नियमों में स्थित माना गया है।[1] यदि हम प्राचीन भारतीय विचारधारा में दिव्यता की अवधारणा की पड़ताल करें तो पाएंगे कि यह इस नियम पर आधारित है कि दिव्य इकाईयां, देवता और इस प्रकार की अन्य वस्तुएं भौतिक और नैतिक स्तर पर ब्रह्मांड को जोड़े रखती हैं, और किसी भी प्रकार की गडबड़ी या अव्यवस्था को दूर रखती हैं। वे सदाचारी होती हैं और धर्म को बनाए रखती हैं। संसार उन्हीं के कारण अस्तित्व में आया है और इसकी निरंतरता भी उन्हीं के कारण है। इसलिए ये दिव्य इकाइयां पूज्य हैं और हमसे उनका संबंध अत्यंत आत्मीय और मैत्रीपूर्ण हैं।[2]

हमारी धरती माँ भी इस दृष्टि से दिव्य है। जो कुछ भी इस पर स्थित है यह उसे गड़बड़ी और अव्यवस्था से दूर रखने का प्रयत्न करती है। यह एक जीवित प्राणी की भांति ही स्थिर तापमान बनाए रखने का प्रयत्न करती है जिस तरह से कोई प्राणी अपना आंतरिक संतुलन बनाए रखता है। इस प्रकार की अवधारणा जिसे *गाइया प्राक्कल्पना* कहा जाता है, ब्रिटिश वैज्ञानिक जेम्स लवलॉक ने १९७० के दशक में प्रतिपादित की थी। अथर्ववेद के *भूमिसूक्त* का ३५वां मंत्र भी इसी भाव को वहन करता है :

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।

(हे धरती माँ, तुममें से जो कुछ भी हम खोद कर निकालें उसका फिर से तुरंत विकास हो। हे

*क्वार्टर नं. २७, जवाहर नवोदय विद्यालय, गणेशपुर, नई दिल्ली, 110039, मो. 09910047612

पवित्र करने वाली, हम तुम्हारे मर्म या तुम्हारे हृदय को कोई आघात न पहुंचाएं।) इस मंत्र में पृथ्वी को एक जीवित इकाई के रूप में देखा गया है जिसका मर्म हृदय है और किसी भी प्रकार की खुदाई करते हुए ध्यान रखना है कि मर्मस्थलों या हृदय को कोई आघात न पहुंचे। यहां पृथ्वी को बराबर का सम्मान दिया गया है। यह मनुष्य केन्द्रित दृष्टिकोण नहीं अपितु जैवकेन्द्रित दृष्टिकोण है जिसके अनुसार जीवन को हर वस्तु में उपस्थित माना गया है जिनमें पृथ्वी भी आती है। यह विशुद्ध पारिस्थितिक अभिवृत्ति है। लवलॉक की *गाइया प्राक्कल्पना* की काफी आलोचना की गई है। परंतु यह एक अद्‌भुत रूपक है जो पारिस्थितिकी के एक मूलभूत सिद्धान्त को सामने रखता है कि सभी जीव साथ साथ जिन्दा रहते हैं।[3] पृथ्वी अपनी व्यवस्था को बनाए रखने और गड़बड़ी को रोकने का यथासंभव प्रयत्न करती है।

इस पृथ्वी पर रहने वाले जीव प्रजनन करते हैं। प्रजनन या अपनी प्रतिकृति बनाने की इस प्रक्रिया को आणविक जैविकी के क्षेत्र में हुई उन्नति के कारण बेहतर ढंग से समझा गया है। इस प्रक्रिया का आधार है डी.एन.ए. अणु। इस अणु में कमाल की बात यह है कि यह स्वयं जीवित नहीं है क्योंकि यह एक मात्र रासायनिक अणु है, परंतु इसी को जीवन का आधार माना जाता है। किसी चीज़ में डी.एन.ए. है तो इसी आधार पर उसे जीवित माना जाता है। अत: जीवविज्ञान ने जीवन की सूक्ष्मतम शक्तियों को पहचाना है। ऊपर भूमिसूक्त के जिस ३५वें मंत्र का जिक्र किया गया है उसका यह अर्थ भी है कि जीवन की सूक्ष्मतम शक्तियों का ध्यान रखा जाए। हमारे समय में जीवविज्ञान ने डी.एन.ए. को जीवन की सूक्ष्मतम शक्ति और इस प्रकार पृथ्वी की सूक्ष्मतम शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है।

हमारे इर्द गिर्द जितनी भी जीवित वस्तुएं हैं सभी में डी.एन.ए. है। हमारे आध्यात्मिक अस्तित्त्व के लिए परमात्मा का जो महत्व है वही महत्व हमारे भौतिक अस्तित्व के लिए डी.एन.ए. का है। यहां से ही एक ऐसी पारिस्थितिक अभिवृत्ति की शुरुआत होती है, जो भौतिकता और आध्यात्मिकता को एक कर देती है। पारिस्थितिकी का संबंध वस्तुओं के अन्तर्संबंध से है, विशेषकर जीवों और उनके समूचे पर्यावरण के अंतर्संबंध से। अत: पारिस्थितिक अभिवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति का अर्थ देती है जो वस्तुओं के बीच अन्तर्संबंध को पहचाने और इस प्रकार उनके अन्योन्याश्रित संबंध को रेखांकित करे। परंतु पारिस्थितिकी का एक और अर्थ है जिसके अनुसार जिस किसी भी व्यक्ति में पारिस्थितिक अभिवृत्ति होगी उसके मन में अन्य जीवों के प्रति सम्मान, यहां तक कि श्रद्धा और संभवत: उनके प्रति रिश्तेदारी की भावना होती है।[4]

जीवविज्ञान डी.एन.ए. के रूप में हमें एक ऐसा उपकरण उपलब्ध करवाता है जो समूचे जीवन के एक होने पर बल देता है। यहां डी एन ए की संरचना पर विचार करना उचित होगा। डी एन ए का अणु कुछ आधारभूत रसायनों की एक श्रृंखला से निर्मित होता है। इस श्रृंखला में जिस प्रकार का रसायन होता है उसी प्रकार की आनुवंशिक सूचना रासायनिक संकेतों के रूप में स्थित होती है। इनमें चार आधारभूत रसायन होते हैं : एडिनिन, ग्वानिन, थायमिन, सायटोसिन। डी एन ए की शक्ल एक लड़ी की तरह होती है। यह एक घुमावदार सीढ़ीनुमा दुहरी कुंडली की तरह होती है। इस दुहरी कुंडली में एक दूसरे के साथ गुंथी डी.एन.ए. की दो लड़ियां होती हैं।

प्रत्येक लड़ी की रीढ़ शक्कर के फॉस्फेट से बनी होती है जिसके साथ अनेक आधारभूत रसायन युग्मों में जुड़े होते हैं। एक लड़ी में आनुवंशिक सूचनाएं होती हैं और दूसरा इस लड़ी का पूरक होता है। चार आधार रसायन इस घुमावदार सीढ़ी का निर्माण करते हैं। आनुवंशिक वर्णमाला के अक्षरों की तरह काम करते हैं। ये एक दूसरे के साथ जटिल श्रृंखलाओं में जुड़कर शब्दों, वाक्यों और अनुच्छेदों का निर्माण करती हैं जो कोशिका का निर्माण करने और उसे कार्यशील बनाए रखने के लिए निर्देशों का कार्य करते हैं। एडिनिन, ग्वानिन, थायमिन, सायदोसिन के आनुवंशिक संकेतों की तुलना कम्प्यूटर के युग्म संकेतों के ''०'' और ''१'' से की जा सकती है। कम्प्यूटर की भाषा की भांति डी.एन.ए. के संकेत एक ऐसी आनुवंशिक भाषा के रूप में कार्य करते हैं जो जैव कोशिका को सूचनाएं संप्रेषित करते हैं। अपनी आधारभूत युग्म संरचना के ये संकेत बेहद सरल होते हैं। परंतु इन संकेतों का सिलसिला और इनकी सक्रियता अत्यंत जटिल होती है। प्रत्येक मानवीय डी.एन.ए. ऐसे आधारभूत रसायनों से निर्मित होता है जो लगभग तीन अरब सुनिश्चित अनुक्रमों में व्यवस्थित होते हैं।[५]

अत: डी.एन.ए. चार अक्षरों से बनी वर्णमाला है। ये अक्षर हैं एडिनिन, ग्वानिन, थायमिन, सायटोसिन अर्थात ए, ग, थ, और स। तीन अक्षर आपस में मिलकर ''त्रिक'' या अंग्रेजी मे कहें तो कोडॉन का निर्माण करते हैं। ये कोडॉन विभिन्न प्रोटीनों के निर्माण के लिए कोशिका के भीतर संकेतों का प्रसार करते हैं। ग ग ग कोडॉन ग्लाइसीन नामक प्रोटीन के निर्माण का संकेत है। ए ए ए लाइसीन और ग स ए ग्साइसीन नामक प्रोटीनों के निर्माण के लिए संकेत देते हैं। ग ग ग अर्थात तीन ग्वानीन की पंक्ति स्वयं ग्साइसीन नामक प्रोटीन नहीं है। वह ग्लाइसीन के निर्माण के लिए मात्र एक प्रतीकात्मक निर्देश है। असल बात यह है कि इन प्रोटीनों के निर्माण की सूचना ए थ स और ग में मौजूद होती है और ये आधारभूत रसायन प्रतीकों के रूप में कार्य करते हैं। ये प्रतीक श्रृंखलाबद्ध होकर प्रोटीन निर्माण, इन प्रोटीनों को निश्चित स्थानों पर स्थित करने और हड्डियों, आंखों और अन्य अंगों के निर्माण के लिए निर्देशों का काम करते हैं।[६] कुल मिलाकर डी.एन.ए. एक जटिल और विशालकाय अणु है जो एक प्राणी को नियंत्रित करने और उसे बनाए रखने के लिए सभी निर्देशों को रासायनिक संकेतों के रूप में वहन करता है। डी.एन.ए. की लड़ी में मौजूद रासायनिक प्रतीक संकेतों में परिवर्तित आनुवंशिक पदार्थ की इकाईयों का निर्माण करते हैं जिन्हें गुणसूत्र या जीन कहते हैं। परंतु डी.एन.ए. स्वयं अपना पुनरुत्पादन नहीं करता। केवल समूची कोशिकाओं में ही पुनरुत्पादन या प्रजनन के आवश्यक उपकरण मौजूद होते हैं और विकास की प्रक्रिया में इन कोशिकाओं में भी यह क्षमता समाप्त हो जाती है। अत: जीवन का मूलभूत अणु अर्थात डी.एन.ए. भी अकेले प्रजनन नहीं कर सकता। इसके लिए उसका किसी कोशिका की व्यवस्था में होना आवश्यक है। सच तो यह है कि निषेचन से पहले ही अंडे में इसके कोशिकीय विकास के दौरान प्रजनन की पूरी व्यवस्था स्थापित हो चुकी होती है। विरासत में हमें गुणसूत्र ही नहीं कोशिकीय तंत्र की एक संपूर्ण व्यवस्था प्राप्त होती है जो प्रोटीनों से निर्मित होती है।[७] जब हम इस आधारभूत योजना को समझ लेते हैं जिससे कि हर प्राणी का जीवन चलता है तो हमें जीवन की विराटता का बोध होता है। क्या हमें इस आधारभूत योजना में विघ्न डालने का

अधिकार है? पहले ही हम पृथ्वी के अन्य प्राणियों के साथ रिश्तेदारी की बात कर चुके हैं। डी.एन.ए. इस रिश्तेदारी को अधिक मज़बूती से स्थापित करता है।

आधुनिक जीवन विज्ञान के अनुसार सभी जीवों में मौजूद कोशिकाओं में माइटोक्वान्ड्रिया नामक सूक्ष्म अवयव होते हैं जो झिल्ली से ढके होते हैं। इनमें ऐसे रसायन होते हैं जो श्वसन की प्रक्रिया के दौरान ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। इनमें दिलचस्प बात यह है कि इन गोलाकार सूक्ष्म अवयवों को उन बैक्टीरिया से उत्पन्न माना जाता है जो पृथ्वी पर जीवन के इतिहास के आरंभिक दौर में बड़ी कोशिकाओं में घुस गए और उनके भीतर अन्योन्याश्रित जीवन जीना आरंभ कर दिया। प्रत्येक माइटोक्वान्ड्रिया के भीतर डी.एन.ए. की अपनी एक छोटी लड़ी होती है जिसके विभाजन से नये माइटोक्वान्ड्रिया बनते हैं।[८] प्रत्येक माइटोक्वान्ड्रिया का गुणधर्म एक जैसा है।[९] यहाँ हम प्रकृति के उस परिश्रम को सम्मान देने के लिए मजबूर हो जाते हैं जो जीवन के निर्माण में लगा है। जीवित कोशिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऊर्जा उत्पादक एक अन्य प्राणी के साथ अन्योन्याश्रित संबंध के कारण अस्तित्व में आया है। यह प्राणी पृथ्वी पर जीवन के आरंभ से ही हमारी कोशिकाओं के साथ जीवन जी रहा है और इन कोशिकाओं के भीतर योगदान दिया है। इन जीवों के भीतर की ऊर्जाएं पहले ही माइटोक्वान्ड्रिया के माध्यम से हमारी कोशिकाओं के भीतर की ऊर्जाओं से अंत:क्रिया कर रही हैं और यह व्यवस्था पीढ़ी दर पीढ़ी चल रही है। यह पारिस्थितिक अभिवृत्ति का सूक्ष्मतम स्तर है। धर्म इस बात को विचारों और भावनाओं के स्तर पर स्थापित करता है। अथर्ववेद का *भूमिसूक्त* इसकी अभिव्यक्ति बड़े ही रोचक ढंग से करता है। उन्नीसवां मंत्र अग्नि तत्त्व को ब्रह्मांड की हर वस्तु में मौजूद मानता है:

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु। अग्निरन्त: पुरुषेषु गोष्वश्वेष्नय:।

(पृथ्वी में अग्नि है, पौधों और जल में अग्नि है; पत्थरों, लोगों के भीतर, गायों और पशुओं के भीतर, घोड़ों के भीतर अग्नि है।) अग्नि से तात्पर्य है ऊर्जा। जो प्राणी ऑक्सीजन का उपयोग नहीं कर पाते वे भी ऑक्सीजन के बिना ऊर्जा का उत्पादन करते हैं। अत: अग्नि ऊर्जा के रूप में हर स्थान पर है, हमारे पर्यावरण में मौजूद हर वस्तु में है। पदार्थ की ठोस, तरल और गैस होने की स्थितियां उनके भीतर ऊर्जा के अंतर के कारण ही हैं। सारी सृष्टि एक है। जीवविज्ञान और धर्म दोनों ही सृष्टि के एक होने की बात करते हैं। यह बात काव्यात्मक लगती है अर्थात विज्ञान भी काव्यात्मक हो सकता है। विज्ञान का साहित्यिक और साहित्य का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाना चाहिए।

भूमण्डलीय बाज़ार में अधिक से अधिक चीज़ों को 'उत्पादों' के दायरे में लाया जा रहा है। संसार को इसके घटक के रूप में देखा जा रहा है। इस प्रकार की विचारधारा संबंधों और प्रभावों की निरंतर पुनर्रचना में पारिस्थितिकी के प्रभावों को नकारती है। बाज़ारी पूंजीवाद को ऐसे अर्न्तसंबंधों को नकारना ही पड़ता है।[१०] किसी भी चीज़ को तब तक उत्पाद में नहीं बदला जा सकता जब तक कि वह अपने पर्यावरण से अभिन्न है। डी.एन.ए. भी कोशिका के भीतर के पर्यावरण से संबद्ध है। परंतु वर्तमान संसार ने डी.एन.ए. के साथ इस सीमा तक छेड़छाड़ की है कि जीवन के आधार इस अणु को भी ऐसे नए रूपों के निर्माण में इस्तेमाल किया जा रहा

है जिन्हें बेचकर पैसा कमाया जा सकता है।

डी.एन.ए. के साथ छेड़छाड़ का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है बी.टी. बैंगन। कुछ समय पहले भारत में इसका बहुत विरोध हुआ था। यह एक ऐसा बैंगन है जिसमें जमीन में मौजूद एक बैक्टीरिया के गुणसूत्रों को प्रवेश कराया जाता है। इस बैंगन में एक ऐसा गुणसूत्र होता है जो कीड़ों को मारने वाले एक प्रोटीन का उत्पादन करता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी वैज्ञानिक प्रोफेसर सेरालिनी ने बी.टी. बैंगन को लेकर पहला स्वतंत्र शोध कर के भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट दी थी। उन्होंने कहा था कि इस बैंगन की खेती और इसे खाने से मानव और पशुओं के स्वास्थ्य को गंभीर खतरे पैदा हो सकते हैं और भोजन में इसका इस्तेमाल मनुष्य के लिए हानिकारक है। इससे स्पष्ट होता है कि इस बैंगन में जो गुणसूत्र प्रविष्ट कराए गए हैं उनसे ये प्रदूषित हो गए हैं। यह आनुवंशिक पदार्थ द्वारा प्रदूषण का मामला है जो कि प्रदूषक तत्त्वों की सूची में एक नया नाम है।

परंतु आनुवंशिक पदार्थ द्वारा प्रदूषण का यह मामला इतना आसान नहीं है। प्रदूषण के अन्य प्रकारों की भांति इसके भी आर्थिक और राजनीतिक कारण हैं। महाराष्ट्र की एक प्राइवेट कंपनी माहीको भारत में इस बैंगन की खेती को प्रोत्साहित कर रही थी और इसमें इसका निजी स्वार्थ था। विश्व की सबसे बड़ी बीज उत्पादक कंपनी अमरीका की मोनसान्टो से इसकी साझेदारी है। इन दोनों कंपनियों का भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारों के सत्ता के गलियारों और संचार माध्यमों पर काफी प्रभाव है। अत: यह अकारण नहीं था कि वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों के जबरदस्त विरोध के बावजूद तत्कालीन पर्यावरण एवं वन राज्यमंत्री जयराम नरेश भारत में बी टी बैंगन की खेती को सरकारी मान्यता देने पर अड़े हुए थे। सरकार द्वारा नियुक्त 'विशेषज्ञ समिति' ने कुछ दिग्गज विद्वानों के सुझावों को दरकिनार करते हुए हड़बड़ी में बी टी बैंगन की खेती को स्वीकृति दे दी। इसके लिए कोई भी महत्वपूर्ण या आवश्यक परीक्षण नहीं किए गए। जो भी परीक्षण किए गए वे माहीको द्वारा चुनी गई प्रयोगशालाओं में किए गए और परीक्षण के लिए नमूने भी माहीको ने ही उपलब्ध कराए थे। तथाकथित सरकारी विशेषज्ञ समिति ने नमूनों की उपयुक्तता को जांचने का कोई प्रयत्न नहीं किया और न ही अन्य स्रोतों से नमूने इकठ्ठे कर के परीक्षण करवाए। इसमें एक अन्य खतरा यह है कि बीज अमरीका की मोनसान्टो कंपनी द्वारा अधिक मूल्य पर उपलब्ध कराए जाएंगे और फिर से खेती करने के लिए बीज को रखा नहीं जा सकेगा। इससे जमीन की प्राकृतिक कृषि संस्कृति और जैव विविधता पर बुरा असर पड़ेगा।[११] हालांकि सरकार ने फिलहाल बी टी बैंगन की खेती को स्वीकृति नहीं दी है। इससे संकेत मिलता है कि कारपोरेट कंपनियां किस प्रकार सत्ता के गलियारों पर दबाव डाल सकती हैं और इस दबाव में सरकारें भी प्रदूषण और जैव विविधता के विनाश में योगदान दे सकती हैं। अत: यहां पर्यावरण प्रदूषण समाजशास्त्र का विषय हो जाता है। समाजशास्त्र पारिस्थितिकी को लेकर संवेदनशील नहीं हो सकता। इसे देखना ही पड़ेगा कि किस प्रकार सत्ता की राजनीति प्रदूषण में योगदान दे सकती है और इसको लेकर समाज किस तरह से प्रतिक्रिया दे सकता है। *मरे बुकचिन* जो सामाजिक पारिस्थितिकी के जनक माने जाते हैं इस बात पर विचार करते हैं। *आर्नी नेस* की गहन पारिस्थितिकी की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं, ''गहन पारिस्थितिकी में जो भी अच्छाइयां हैं, सच तो

यह है कि यह किसी भी अन्य अतिवादी पारिस्थितिक परिप्रेक्ष्य से अधिक ही मनुष्य को पारिस्थितिक विघटन के लिए जिम्मेदार ठहराती है—विशेषकर आम उपभोक्ताओं और बच्चे पैदा करने वालों को— जबकि उन कारपोरेट हितों को नजरअंदाज कर दिया जाता है जो वास्तव में हमारी पृथ्वी को लूट खसोट रहे हैं।[१२]

वैज्ञानिक या साहित्यिक क्षेत्रों को लिया जाए तो इनसे संबद्ध लोग एक दूसरे से काफी दूर नजर आते हैं। जीव विज्ञान भौतिक पदार्थ से निर्मित जीवन की सूक्ष्मतम गतिविधियो से ही संबद्ध है और जीवन पर किसी प्रकार के प्रदूषण से पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन आसानी से कर सकता है। परंतु इस विषय में साहित्य क्या करे? चेरित *ग्लॉटफेल्टी* और *हेरल्ड फ्रॉम* जिन्होंने *हरित समीक्षा* (साहित्य का अध्ययन पर्यावरण के साथ इसके संबंधों के आधार पर करने वाली समीक्षा पद्धति) की शुरूआत की, पर्यावरण प्रदूषण के इस युग में साहित्य से संबंध रखने वाले लोगों की स्थिति को रेखांकित करते हैं, ''हमारा स्वभाव और हमारी योग्यता हमें साहित्य के विभागों में ले आई है, परंतु जबकि पर्यावरण की समस्याएं बढ़ती जा रही हैं, पुराने ढर्रे पर ही काम करते चले जाना अनैतिक और तुच्छ लगता है। हम समाधान के अंग नहीं हैं तो हम स्वयं समस्या हैं।'' हम पर्यावरण की पुनर्स्थापना में किस तरह से योगदान दे सकते हैं, वह भी अपने खाली समय में नहीं अपितु साहित्य के प्रतिपादक होने की अपनी स्थिति के भीतर से ही? इसका उत्तर इस बात को मानने में ही मौजूद है कि पर्यावरण की वर्तमान समस्याएं काफी हद तक स्वयं हमारी ही बनाई हुई हैं, दूसरे शब्दों में ये संस्कृति का ही उप—उत्पाद हैं।''[१३] ग्लॉटफेल्टी और फ्रॉम साहित्य की हरित समीक्षा पर बल देते हैं। इस प्रकार की समीक्षा के लिए वे एक पद्धति सामने रखते हैं। किसी साहित्यिक कृति की ऐसी समीक्षा करते हुए हम कुछ इस प्रकार के प्रश्न पूछ सकते हैं :

१. कृति में प्रकृति का प्रतिनिधित्व किस तरह से किया गया है?
२. प्राकृतिक स्थितियों का किसी उपन्यास की कथावस्तु में क्या योगदान है?
३. क्या साहित्यिक कृति में अभिव्यक्त मूल्य पारिस्थितिक विवेक के अनुरूप हैं?
४. भूमि के हमारे रूपक उसके प्रति हमारे व्यवहार को किस तरह से प्रभावित करते हैं आदि

हरित समीक्षक दृष्टिकोण से किसी कृति का विश्लेषण करते हुए हम इनके अतिरिक्त भी कई प्रश्न पूछ सकते हैं। *ग्लेन ए.लव* जैसे हरित समीक्षक जीव विज्ञान और साहित्य में संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उनके पास जीव वैज्ञानिकों और साहित्यिकों, दोनों के लिए ही सुझाव और प्रश्न हैं, ''जीव वैज्ञानिकों को ध्यान में रखना चाहिए कि जीव विज्ञान में तब तक किसी भी चीज का कोई अर्थ नहीं है जब तक कि विकासवाद से उसका संबंध न जुड़े। क्या अन्ग्रेजी भाषा के क्षेत्र में विकासवाद की तरह विराट अवधारणा के लिए स्थान है? क्या हमें हर किसी की कथा कहनी चाहिए? हाल ही में डी.एन.ए. की संरचना का जो अर्थापन किया गया है उससे रंग—भेद और उत्पत्ति विषयक कई सिद्धान्तों को खंडन हुआ है। इससे अन्य मनुष्यों और जीवन के सभी रूपों के साथ हमारे संबंध मजबूत हुए हैं। क्या मात्र सबकी भिन्नताओं पर ध्यान देने की अपेक्षा जीव वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में उन तत्त्वों को देखना जो हमसब में समान रूप

से मौजूद हैं, मनुष्यों की अधिक आपसी समझ और अधिक व्यापक साहित्यिक अध्ययन को सुनिश्चित करता है? क्या हम थोड़ा निकट आकर उन तत्त्वों की पहचान कर सकते हैं जिससे विज्ञान और साहित्य अलग होने की बजाय एक हो जाते हैं? क्या हम अपने आदर्शवाद को भ्रांतियों की बजाय वास्तविकता का आधार दे सकते हैं?[१४] हरित समीक्षा का क्षेत्र लगातार विकसित हो रहा है और साहित्य समीक्षा के लिए जीव विज्ञान का आधार भी ले रहा है।

इस प्रकार की विचारधारा मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी विकसित हो रही है। प्रमुख नैदानिक और समाज मनोवैज्ञानिक *मार्क पिलिसुक* जो कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एमेरेटस हैं, व्यक्तिगत और तकनीकि विकास के दबाव से त्रस्त लोगों की आवाज सुनने के लिए मनोवैज्ञानिकों को महत्वपूर्ण मानते हैं। ये लोग चिंतित और काम के दबाव से परेशान होते हैं। वे अपने छिन्न भिन्न संबंधों और उपभोग को ही संतुष्टि मानने वाले समाज के कारण स्वयं को निरर्थक समझने लगते हैं। *पिलिसुक* कहते हैं कि पार्कों, जंगलों या महासागरों की शक्ति की पुनर्स्थापना से व्यक्तित्व के केन्द्र को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तनावग्रस्त लोगों को वैकल्पिक पद्धतियों से व्यक्तिगत राहत पाने का तरीका सिखाया जाता है और समाज और पर्यावरण में मौजूद तनाव पैदा करने वाले तत्त्वों पर ध्यान नहीं दिलाया जाता।[१५] पश्चिम की हर चीज की तरह वहां के मनोविज्ञान का प्रतिमान भी विकास पर आधारित रहा है। यह विकास के एक ऐसे अनुक्रम की कल्पना करता है जिसके अंतर्गत कोई व्यक्ति, संगठन या देश पर्यावरण से पदार्थ और सूचनाओं का उपभोग करके उस स्थिति से बेहतर और शानदार स्थिति में आ जाता है जिस स्थिति में वह उस से पहले था। चूंकि हमारे पास गुणवत्ता का कोई विशद मापदण्ड नहीं होता इसलिए हमारे पास केवल मात्रा का पैमाना रह जाता है; अधिक धन, अधिक उपभोग, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिए अधिक मरीज आदि।

परंतु एक वैकल्पिक मापदण्ड भी है जो पश्चिमेतर संस्कृतियों में प्रमुखता से पाया जाता है। यह मानदण्ड है अन्योन्याश्रितता का। यह मानदण्ड स्वत्व को एक वृहतर व्यवस्था और वृहतर प्राकृतिक पारिस्थितिकी के अंग के रूप में देखता है।[१६] अथर्ववेद का *भूमिसूक्त* इस मापदण्ड का बेहतरीन उदाहरण है जो कि पृथ्वी की देखभाल पर आधारित है। पृथ्वी की देखभाल और हितरक्षा का आधार लिया जाए तो पारिस्थितिक विघटन को लेकर सभी अकादमिक अनुशासनों को एक दूसरे से अलग नहीं रहना चाहिए। संसार भर में सभी अनुशासनों को पारिस्थितिकी के साथ जोड़ने के प्रयत्न हो रहे हैं लेकिन अभी अपेक्षित परिणाम नहीं आ रहे हैं। अभी भी हर चीज के उत्पादीकरण की कार्पोरेट प्रवृत्ति ही हावी है और जिसके चलते चीजों को जोड़ा नहीं तोड़ा ही जा रहा है। इससे पारिस्थितिक अभिवृत्ति का विकास नहीं हो सकता।

पारिस्थितिक अभिवृत्ति से ही इस पृथ्वी को बचाया जा सकता है और इसके लिए हमें अपनी भारतीय परंपरा से जुड़ना होगा। ऐसा कहना बहुत ही आदर्शवादी लग सकता है लेकिन विकास के मानदण्ड के आधार पर काम करने वाली तकनीकि समृद्धि से पारिस्थितिक विघटन रुक नहीं पाया है। तकनीकि समृद्धि इस बात को ध्यान में नहीं रखती कि धरती माता के

संसाधन असीम नहीं केवल हमारा लोभ असीम है। धरती मां जीवनदायिनी है और इसका ध्यान रखे बिना जीवन असंभव है। *भूमिसूक्त* जिस युग में कहा गया उस युग में लोगों में यह समझ थी। छठें मंत्र में कहा गया है,

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु।

सब को धारण करने वाली, खजानों को रखने वाली, हमें सुदृढ़ आधार देने वाली, स्वर्ण के वक्षों वाली अर्थात समृद्धि से भरपूर, हर प्रकार के गतिमान जीवन को धारण करने वाली पृथ्वी, पवित्र सार्वभौमिक अग्नि को वहन करती है। हमारी मातृभूमि हमारे नेताओं, ज्ञानियों और हम सब को सभी प्रकार की समृद्धि प्रदान करे।

सन्दर्भ :

१. The Hindu, March 12, 2001.
२. P. 886-887 Encyclopaedia of Hinduism, (H-Q) Volume-3, By Sunil Sehgal, Sarup and Sons.
३. Environmental science, action for a sustainable future, north east version, By Daniel B. Chiras, The Benjamin/Cummings Publishing Company, inc, 1994.
४. P. 76 Process Theology : An Introductory Exposition, By John B. Cobb, David Ray Griffin, Westminister John Knox Press, 1976.
५. www.allaboutscience.org
६. www.cosmicfingerprints.com
७. P. 239-240, Biology under the influence, Richard Lewontin and Richard Levins, Aakkar Books, 2009.
८. P. 384, Hutchinson Dictionary of Science, Ed. Peter Lafferty and Julian Rowe, Helicon Publishing Ltd. Oxford UK, 1995.
९. P. 10, Mitochondria, By Immo E. Scheffer, Willeu liss, 2008.
१०. P. 408, Organization and Environment, Vol 18, No. 4 December, 2005, Sage Publications.
११. www.nowpublic.com/word/dangers-bt-brinjal-farming-india
१२. P.123, Defending the Earth; A dialogue between Murray Bookchin and Dave Foreman, By Murray Bookchin, Dave Foreman, Steve Chase, South End Press, 1991.
१३. P.xx-xxi, The Ecocriticism Reader, Edited by Cheryll Glotfelty and Harold Fromm, The University of Georgia Press, 1996.
१४. P. 165, Practical Ecocriticism, By Glen A. Love, University of Virginia Press, 2003.
१५. P. 35, Journal of humanistic psychology, vol. 41, No. 2, Spring 2001.
१६. P. 26, Journal of humanistic psychology, vol. 41, No. 2, Spring 2001.

•••

सिनेमा की समझ आम सिने—दर्शकों में पापुलर सिनेमा के ही रुप में है

(मराठी थियेटर तथा फिल्म और हिन्दी फिल्मों के जाने—माने अभिनेता, निर्देशक डॉ. श्रीराम लागू से जनार्दन* एवं राकेश कुमार सिंह** की बातचीत)

राकेश: सर, अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में कुछ बताएं।

डॉ. श्रीराम लागू: आप लोगों ने *लमाड़* पढ़ी हुई होगी, उसमें मेरा पूरा परिचय दिया गया है, जिससे आपके प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा। यदि आपने मेरे पर पूरा होमवर्क किया होगा, तो भी मेरा परिचय कई जगह पढ़ा होगा, आप इसका उत्तर वहीं प्राप्त कर सकते हैं ।

जनार्दन: आप फिल्मों से कैसे जुड़े, क्या कोई गॉड फादर था?

डॉ. श्रीराम लागू: कला के प्रति और उसमें भी अभिनय के प्रति बचपन से ही रुझान था, जो एम.बी.बी.एस.की पढ़ाई के दौरान जुनून बन गया। डॉक्टरी की पढ़ाई करते हुए लोक कला के प्रति मेरा लगाव दीवानगी में तब्दील हो चुका था। इसी वजह से मैं मराठी में मराठी रीति—रीवाजों पर केंद्रित नाटक लिखने लगा और उसमें अभिनय भी करने लगा। अपने साथ—साथ मेरे क्लास में पढ़ने वाली लड़कियों को भी इन नाटकों में अभिनय करने के लिए जागरूक करने लगा। नाटक करने के इस शौक से धीरे—धीरे पहचान मिलने लगी। इस पहचान के चलते फिल्मों से जुड़े हुए लोग भी मुझे जानने लगे और इस प्रकार से मुझे फिल्में भी मिलने लगीं। एक तरह से मेरा अभिनय ही मेरा गॉड फादर साबित हुआ। जो आप सोच रहे हैं उस रूप में किसी गॉड फादर का सहारा मुझे नहीं मिला।

राकेश: हिन्दी और मराठी की किन फिल्मों में काम करके आपको सबसे ज्यादा संतुष्टि मिली?

डॉ. श्रीराम लागू: देखिए, जिन फिल्मों में मैंने काम किया उन सभी फिल्मों का पसंद के हिसाब से मै बंटवारा नहीं कर सकता, क्योंकि जिन फिल्मों में मुझे अपना रोल बेहतर और माकूल लगा उन्हीं में मैंने अभिनय करना स्वीकार किया। जिनमें अपनी भूमिका पसंद नहीं आई, उनमें मैंने एक्टिंग ही नहीं की । इसीलिए मुझे मेरी सभी फिल्में पसंद हैं। इनमें ऐक्टिंग करने का मेरा अनुभव काफी अच्छा रहा ।

जनार्दन: मराठी नाटक 'नाट्यसम्राट' में काम करके आप को कैसा लगा, कहा जाता है कि इस नाटक से आपकी लोकप्रियता काफी बढ़ गई?

श्रीराम लागू: जी हाँ! आप सही कह रहे हैं। यह नाटक अपने—आपमें बेजोड़ था; जिसे कुसुमाग्र जी ने लिखा था। इसमें काम करके मुझे बेहद संतुष्टि और खुशी महसूस हुई। एक प्रकार से इस नाटक ने ही मुझे अभिनय के क्षेत्र में बुलांदियों पर पहुंचाया। लोग मानने लगे कि राम लागू नाम का भी एक शख्स है जिसे अभिनय आता है। इस नाटक ने मेरे अन्दर के अभिनेता के आत्मविश्वास को भी बढ़ाया ।

*शोधार्थी, केन्द्रीय फिल्म संस्थान, पुणे **शोधार्थी : हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

राकेश: आप प्रोग्रोसिव ड्रामेटिक एसोशिएसन (PDA, पूना) और रंगायन (मुम्बई) जैसे नाट्य संगठनों से जुड़े रहे। इनसे आप का जुड़ाव किस किस्म का था?

डॉ. श्रीराम लागू: अच्छा आप पी.डी.ए. की बात कर रहें हैं। (थोड़े समय रुकते हैं, जैसे कुछ याद कर रहे हों) पी.डी.ए. पूना का सबसे एक्टिव ड्रामेटिक ऐसोशिएसन था। इसमें सक्रिय सदस्य के रूप में काम करने वाले लोगों में चपरासी, क्लर्क, डॉक्टर, इंजीनियर एवं बड़े—बड़े अफसर थे। ये वे लोग थे जो कुछ रचनात्मक करना चाहते थे। मेरा भी जुड़ाव इस संगठन से इसी किस्म का था। इससे हमें रचनात्मक अभिव्यक्ति का एक मंच मिला। रंगायन ने भी मुम्बई (तब बम्बई) में यही काम किया। इसके भी शो बहुत पॉपुलर हुए। इन दोनों के माध्यम से मेरे अभिनय की पहुंच पूना और मुम्बई के दर्शकों, रंगकर्मियों, और सिने—कर्मियों तक हुई, जिससे सिने—जगत में मेरी पहुंच का दायरा थोड़ा और बढ़ गया ।

राकेश: सन् १९७३ की श्रेष्ठ मराठी फिल्म 'पिंजरा' में आपने अभिनय किया। आपके अभिनय को बहुत सराहा गया; लेकिन कहा जाता है कि यह प्रथम बोलती जर्मन फिल्म *डेर ब्लाव ऐंजेल* (Der Blaue Engel) से प्रभावित थी। इसके बावजूद भी यह बहुत सफल रही। इसके इतने सफल होने के पीछे कौन से कारण थे?

डॉ. श्रीराम लागू: यह फिल्म जाने—माने फिल्मकार वी. शांताराम की फिल्म थी। और आप शांताराम को तो जानते ही हैं कि वे संदेश प्रधान फिल्में बनाने के लिए जाने जाते थे। इनकी संदेश प्रधान फिल्मों में जो मानवीय मूल्य और सामाजिक दृष्टि दिखाई देती है वह बनते भारत को और बेहतर बनाने की उनकी चाहत की देन है। इसी कारण उन्होंने हिन्दी और मराठी में जो भी काम किया वह स्वयं में 'मील का पत्थर' है। *पिंजरा* भी इसी कड़ी की एक फिल्म है। आप कह रहे हैं कि यह किसी जर्मनी की फिल्म से प्रभावित थी; जिसे मैंने भी सुना है, पर सुना भर ही है, देखा नहीं है। वैसे इस तरह की बातों पर हमें उतना ध्यान नहीं देना चाहिए क्योंकि यह भारतीय परिवेश में भारतीय समस्या को टच करने वाली फिल्म है तो नि:संदेह यह भारतीय फिल्म है। इसके इतने सफल होने की यही वजह थी। इसके अलावा जहाँ तक इस फिल्म में मेरी एक्टिंग का सवाल है तो यह मेरी उपलब्धि है कि शांताराम जी ने मुझे इस फिल्म में काम करने के काबिल समझा।

जनार्दन: हिंदी में आपने, जहाँ *किताब* (१९७७), *घरौंदा* (१९७७), *मीरा* (१९७८) और *सदमा* (१९८३) जैसी बेहतरीन आर्ट फिल्मों में काम किया। वहीं *देश—परदेश* (१९७८) मु*कद्दर का सिकंदर* (१९७८), *इंसाफ का तराजू* (१९८०) और *सौतन* (१९८३) जैसी पॉपुलर फिल्में, जो व्यावसायिक रूप से सफल रहीं, में भी अभिनय किया। आप को संतुष्टि किस प्रकार की फिल्मों में अभिनय करने से प्राप्त हुई; और सिनेमा की इन दो धाराओं के प्रति एक अभिनेता की हैसियत से आप के क्या विचार है?

डॉ. श्रीराम लागू: जैसा कि मैंने पहले भी आप से कहा कि मैंने वही फिल्में कीं जिनमें मेरा रोल मेरे अन्दर के कलाकार की क्षमता और अभिरूचि के हिसाब से उचित लगा; परन्तु *किताब* और *घरौंदा* टाईप की फिल्में करके मेरे अन्दर आत्मगौरव का भाव पैदा हुआ। इन फिल्मों से मेरे अन्दर के अभिनेता को परिपक्वता मिली जिससे मेरे अभिनय की क्षमता को एक अतिरिक्त आत्मविस्तार

मिला। वैसे इस तरीके की फिल्मों में लोकप्रिय (पॉपुलर) सिनेमा का कलाकार काम करता है तो फिल्म एवं कलाकार दोनों को लाभ होता है। पॉपुलर कलाकार को कला फिल्मों में देखकर आम सिने–दर्शक भी फिल्म देखने के लिए जाता है। इस आधार पर देखा जाए तो हर अभिनेता को कला फिल्मों में काम करने से पहले पॉपुलर फिल्मों में अपनी सशक्त पहचान बनाना बहुत जरूरी है तभी वह कला फिल्मों के माध्यम से आम सिने–दर्शक पर अपनी सार्थक और सफल छाप छोड़ सकता है; क्योंकि सिनेमा की समझ आम सिने–दर्शकों में पॉपुलर सिनेमा के रूप में ही है।

जनार्दन: सन् १९७६ में, आपकी फिल्म *बुलेट* (हिन्दी) देवानंद एवं परवीन बॉबी के साथ आई। देव साहब से जुड़ी कुछ यादें शेयर करें ।

डॉ. श्रीराम लागू: मेरी नजर में वे हिन्दी सिनेमा के लिए एक महान उपलब्धि थे। उनके अन्दर सिनेमा के प्रति इतना जुनून था कि लगता था सिनेमा ही उनके लिए जीवन का दूसरा नाम है। एक ऐक्टर के रुप में, आप उन्हे चाहें जो भी कहें, पर सिनेमा के लिए उनके प्रेम और समर्पण पर कोई सवाल खड़ा नहीं किया जा सकता। फिर *गाइड* जैसी लगभग सभी दृष्टियों से सफल फिल्म भी उन्होंने ही दी। यही वजह है कि वे एक कलाकार और इंसान दोनों रूपों में रोचक और जिंदादिल थे।

राकेश: अमिताभ बच्चन और संजीव कुमार के साथ आप की कई फिल्में हैं। एक कलाकार के रूप में इन दोनों को आपने कैसा पाया?

डॉ. श्रीराम लागू: यह छोटा मुँह बड़ी बात होगी, लेकिन मेरा जहाँ तक अपना कलात्मक अनुभव है उस हिसाब से अमिताभ की तुलना भारत में तो शायद ही किसी कलाकार से की जा सकती है। विश्व स्तर पर देखा जाए तो इसके स्तर का जो अभिनेता है वह है– पॉल न्यूमैन, बाकी मेरी नजर में कोई नहीं। बड़ा ही परिपक्व और अनुशासनप्रिय अभिनेता है अमित। और जहाँ तक रही बात संजीव कुमार की वे भी अपनी तरह के बड़े चरित्र अभिनेता थे। अभिनय की बारीकियों की पहचान उनमें गजब की थी। इसलिए उन्हें चरित्र में पूरी तरह इन्वाल्व हो जाने वाला अभिनेता मैं मानता हूँ और, इस खूबी के लिए उन्हें हमेशा हिंदी सिनेमा में महत्वपूर्ण चरित अभिनेता के रूप में याद किया जाएगा ।

राकेश: 'टाईम टू रिटायर गॉड' पर पूरे देश में प्रतिक्रिया हुई। ५ अगस्त, २००७ को 'हिन्दी जन जागृति समिति' में कहा गया है "Dr. Shree Ram Laagu refers to Lord Pandurang a stone" ऐसा कहके उन्होंने हिंदू भावना को ठेस पहुँचाया है!

डॉ. श्रीराम लागू: मैंने ठेस पहुँचाया! यह एक तरफा आरोप है। वास्तव में पत्थर की मूरत क्या है? है तो वह पत्थर ही। यदि कोई मुझे अपने तर्कों से यह साबित करके संतुष्ट कर दे कि नहीं वह पत्थर नहीं कुछ और है, तो मैं मान जाऊँगा। पर कोई पहले यह करे तो। और जब तक ऐसा नहीं होगा; मैं अपने वक्तव्य पर टिका रहुँगा। चाहे इसके बदले में मुझे किसी तरह की जहमत ही क्यों न उठानी पड़े।

जनार्दन: सन् १९९९ में आपने अन्ना हजारे के आंदोलन का समर्थन किया। इस वक्त किए जा

रहे उनके आंदोलन पर आप की क्या प्रतिक्रिया है?

डॉ. श्रीराम लागू: पहली बात यह कि मैं गाँधीवादी विचारों में यकीन रखने वाला इंसान हूँ। सन् १९९९ में जब अन्ना हजारे ने आंदोलन किया, वह मुझे उचित लगा। उससे मेरी वैचारिक सहमति बनी। वैचारिक रूप से सहमत होने का ही नतीजा था कि मैंने पूरे कमिटमेंट के साथ उनका समर्थन किया। यहाँ तक कि उनके साथ जेल भी गया। चूँकि, अब उम्र के इस पड़ाव पर वो मानसिक, शारीरिक क्षमता नहीं रही, जिसके चलते मैं कला और सामाजिक गतिविधियों से लगभग पूरी तरह से कट सा गया हूँ, इसलिए इस बार के आंदोलन के बारे में कोई विशेष जानकारी मुझे नहीं है।

राकेश: *लमाड़* (आत्मकथा) लिखने की वजह और प्रेरणा एक साथ कहाँ से मिली?

डॉ. श्रीराम लागू: इस प्रश्न के बारे में बस इतना कहूँगा कि मेरे करीबी लोगों ने कहा कि आप के पास इतना व्यापक और विविध जीवनानुभव है; आप को इस के बारे में लिखना चाहिए। यह बात मुझे जँच गई और लिखने का सिलसिला चल पड़ा तो चल पड़ा, फिर किश्तों में ही सही, पर लिख डाली।

जनार्दन: डॉक्टरी की पढ़ाई और साथ–साथ अभिनय करना, थोड़ा मुश्किल प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों क्षेत्रों के लिए सम्पूर्ण एकाग्रता एवं ऊर्जा की पर्याप्त आवश्यकता होती है। आप दोनों जगह सफल रहे। इतनी उर्जा कैसे जुटा लेते थे?

डॉ. श्रीराम लागू: आपको तो यह पता होगा, या पता होना चाहिए कि व्यक्ति के मामले में ऊर्जा दो तरह की होती है– फिजिकल एनर्जी और मेंटल एनर्जी। पहले के लिए मैं खान–पान एवं व्यायाम पर विशेष ध्यान देता था। चूँकि डॉक्टर था इस वजह से मुझे मालूम था कि क्या खाना चाहिए और क्या नहीं। रही बात मेंटल एनर्जी की तो उसके लिए मैं योग करता था। बाकी की पूर्ति ऐक्टिंग के प्रति जुनून से हो जाती थी।

राकेश: फुरसत के क्षणों में क्या करना पसंद करते है?

डॉ. श्रीराम लागू: पढ़ने का बड़ा शौक है; पढ़ता हूँ। हालांकि इस उम्र में अब तो वो ऊर्जा और एकाग्रता नहीं रही, इसलिए बहुत ज्यादा नहीं पढ़ पाता हूँ। फिर भी जितना पढ़ पाता हूँ, उससे मुझे संतुष्टि और सुकून दोनों मिलता है।

जनार्दन: खुद को किस रूप में बेहतर पाते है, चिकित्सक, निर्देशक या अभिनेता?

डॉ. श्रीराम लागू: (हँसते हुए) सभी रुपों में बेहतर पाता हूँ। मेरा व्यक्गित तौर पर यह अपना मानना है कि जीवन को समग्र रूप में जिंदादिली के साथ आप तभी महसूस कर सकते हैं जब आप अपनी समस्त अभिरूचियों के साथ जीवंत और जागरूक रहें। मैंने जो भी क्षेत्र चुना वह मेरी अभिरूचि के अहम हिस्से थे; जिनको लेकर मेरे मन में कही कोई दुविधा नहीं है।

•••

मगही भाषा : इतिहास, स्वरूप और संस्कार

***लक्ष्मण प्रसाद**

आदिकालीन भाषा का स्वरूप ''तैत्तिरीय संहिता'' के निम्न श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

वाग्वै पराच्यव्याकृतवदत। ते इन्द्रमब्रुवमन इमा नो वाच।।

व्याकुर्वीति . . . तामिद्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत।। ६/४/७

अर्थात पुरा—काल में वाणी अव्याकृत (व्याकरण संबंधी प्रकृति—प्रत्यादि संस्कार से रहित अखण्ड पद रूप) बोली जाती थी। उन्होंने (अपने राजा) इन्द्र से कहा, 'इस वाणी को हमलोगों के लिए व्याकृत (प्रकृति—प्रत्यादि संस्कार से युक्त) करो।'... इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़कर व्याकृत किया। स्पष्ट है कि आरंभ में वाणी व्याकरणादि नियमों से मुक्त लोकवाणी के रूप में रही होगी। कालांतर में वाणी ने व्याकरण संबंधी नियमों को ग्रहण किया। यही प्राचीन लोकवाणी व्याकरण से संस्कारगत होकर संस्कृत रूप में विकसित हुई। चूँकि व्याकरण आदि नियमों से परिनिष्ठित होकर संस्कारपूर्ण भाषा रूप (संस्कृत) में सामने आयी, इसलिए वाणी का यह भाषा—रूप जनसमुदाय से अलग हो गया। अत: हमारे बीच भाषा के दो रूप सामने आये, जो आज भी हैं, १. व्याकरण के नियमों से बँधी आभिजात्य भाषा अर्थात् पढ़े—लिखे व विद्वानों की भाषा, २. जन—सामान्य की लोकवाणी।

यह तो सत्य है कि जन—सामान्य की लोकवाणी ही उपयुक्त अवसर पाकर परिनिष्ठित भाषा का रूप ग्रहण करती है। यही स्थिति व्यापक शौर्य—शक्ति सम्पन्न मगध की भाषा 'मागधी' (मगही) के साथ रही। इसने कई उत्थान—पतन देखे। कच्चान ने इसे ही 'मूलभाषा' कहकर संबोधित किया है। इसकी गिनती भारोपीय परिवार के भारत—ईरानी वर्ग में आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के अन्तर्गत की जाती है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे आधुनिक आर्यभाषा की बाहरी उपशाखा के पूर्वी समुदाय में रखकर इसे 'बिहारी' कहा है।[१] 'बिहारी' से तात्पर्य बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषा से है। बिहार में मगही, मैथिली, भोजपुरी और अंगिका बोली जाती है। सबका अलग—अलग क्षेत्र है। लेकिन आन्तरिक एकता का तिरस्कार नहीं किया जा सकता है। शायद इसी आन्तरिक एकता के कारण इन्हें 'बिहारी' कहा गया है। डॉ० सुनिति कुमार चटर्जी को यह वैज्ञानिक नहीं लगा और उन्होंने भारतीय आर्यभाषाओं को पाँच वर्गों में विभाजित कर मगही को प्राच्य मागध सम्प्रदाय में रखा।

संस्कृत काल में मागधी (मगही) गाँव की वाणी आर्थात लोकवाणी रही क्योंकि संस्कृत नाटकों में सामान्य ग्रामीण पात्रों के मुख से मागधी भाषा का प्रयोग मिलता है। प्राचीन काल में जिसे 'मागधी' कहा गया है, उसे ही आज 'मगही' के नाम से जानते हैं। हम जानते हैं कि भाषा का नामकरण जाति अथवा क्षेत्र के नाम पर होता है। ऋग्वेद में जिसे 'कीकट' कहा गया है,

*एसोशिएट प्रोफेसर : हिन्दी विभाग, को—ऑपरेटिव कॉलेज, जमशेदपुर, मो. 09661504673

अथर्ववेद में उसी को 'मगध' के नाम से पुकारा गया है।[२] अत: क्षेत्र के नाम पर भाषा के नामकरण के अनुसार 'मागधी' मगध की भाषा थी।[३] यह संस्कृत से भिन्न रूप में थी। भगवान बुद्ध ने इसे ही अपने प्रवचन का माध्यम बनाया। बुद्धघोष ने स्थान—स्थान पर 'मागधी' शब्द का प्रयोग किया है : ''मागधिकाय सब्बसत्तानं मूलभाषाय'', ''सकायनिरुत्तिनाम सम्मासम्मबुद्धेन वुत्तप्पकारो मागध ा को वोहोरो।'' (विसु०, पृष्ठ ३४, समन्त पृष्ठ ३०८)

पालि का व्याकरण लिखते समय आचार्य मोग्गलान ने कहा है—

सिद्धिमिद्धिगुणं साधु नमस्सित्वा तथागत।

सद्धम्मसङ्ग भासिस्स मागधं सघलक्खणं।''

मोग्गलानपच्चिका, पृष्ठ ३

कच्चान के शब्दों में—

''मागधीकाय बालानं बद्धिया बुद्धसासने।

वक्खं कच्चायनसारं जङधदसकं।।'' — *२२ कारिका*

सारिपुत्त संघराज (११५० ई०) ने ''सारत्यदीपिनी'' नामक विनय अट्ठकथा—टीका के प्रारंभ में लिखा है :

''मागधीकाय भाषाय आरभित्वा पि केनचि।

भासन्तरेहि सम्मिस्सं लिखितं किच्चिदेव च।।''

संङधविखत थेर (१३०० ई० के आसपास) 'बुत्तोदय' नामक छन्दशास्त्र ग्रंथ के मंगलाचरण में कहते हैं :

''पिङलाचारियादीहि छंद यमुदितं पुरा।

सुद्धमागधिकानं तं न साधेति यथिच्छितं।।

ततो मागधभासाय मत्तावण्णविभेदनं।

लक्खलक्खणसंयुत्तं प्रसन्नत्यपदक्कमं।।''

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मगध की भाषा मागधी उस समय काफी विकसित थी। इसे ही भगवान बुद्ध के प्रवचन का माध्यम बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। भिक्षु सिद्धार्थ का कहना है कि ''नि:सन्देह भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश मगध की टकसाली भाषा में दिये और उसी में शिष्यों ने उन्हें सीखा और उपदेश दिया।''[४] इसी मत का समर्थन पालि भाषा—साहित्य के विद्वान इतिहासकार डॉ० भरत सिंह ने भी किया है, ''जिस भाषा में त्रिपिटक लिखा गया है, उसके लिए ''मागधी'', ''मागध भाषा'', ''मागधा—निरुक्ति'', ''मागधिक भाषा'' जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है, जिसका अर्थ होता है मगध में बोली जाने वाली भाषा।''[५] इस तरह मागधी भगवान बुद्ध के प्रवचन की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इसका कारण यह था कि भगवान बुद्ध ने उस परंपरा का विरोध किया था, जिसकी भाषा संस्कृत थी। वे जन—सामान्य में परंपरा के विरोध में खड़ा करना चाहते थे, इसलिए संस्कृत की जगह लोकवाणी मागधी को स्वीकार करना आवश्यक था। इसी मागधी को बाद में 'पाली' के नाम से जाना गया। ''मागधी''

उस समय की सम्पन्न भाषा थी। इसका कारण यह है कि मगध प्रतिष्ठित और प्रतापी राजाओं का केन्द्र रहा। बाद में बौद्ध अनुयायी राजाओं के द्वारा इसे संरक्षण भी मिलता रहा। इससे राज—काज के रूप में मागधी को अपनाया गया। उस समय की प्राप्त मूर्तियाँ और शिलालेख इसके प्रमाण हैं। ''भारत में अब तक ऐतिहासिक काल की जो सबसे पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं, वे शैशुनागवंश (७२७—३६६ ई० पू०) के कई राजाओं के हैं, जैसा कि उन पर खुदे नामों से विविदत होता है।. .. उक्त शैशुनाग की मूर्तियों में सबसे पुरानी अजातशत्रु की है, जो बुद्ध का तुल्यकालीन था।'' (रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ १३)। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि मागधी मगध की समुन्नत भाषा के रूप में विकसित थी। यह ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित हो जाता है कि इन मूर्तियों के शिलालेख जिस भाषा में लिखे गये उसी में राज—काज भी होता था। यही कारण है कि भगवान बुद्ध ने अपने प्रवचन के लिए इसी मागधी को अपनाया। भगवान बुद्ध के उपरांत उनके शिष्यों ने मागधी को विकसित किया, लेकिन समय और स्थान के चलते इसके स्वरूप में परिवर्तन होता गया, जिसे भाषा वैज्ञानिक विकास कहा जायगा। इसी परिवर्तन को देखकर कुछ लोगों को इसे मगध की भाषा मानने में भ्रम होता है। वे इसे ''पूर्बी बोली'' कहकर समूहवाची बना देते हैं, जैसा कि ग्रिर्यसन ने इसी तरह 'बिहारी' कहा है। ''इस पालि भाषा को गलती से मगध या दक्षिण बिहार की प्राचीन भाषा मान लिया जाता है; वैसे यह उज्जैन से मथुरा तक के मध्यदेश के भू भाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वैसे इसे पश्चिमी हिन्दी का एक प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा।'' (*भारतीय आर्यभाषा हिन्दी, पृष्ठ १७४—१७५*)।

वास्तव में मागधी भाषा (पालि) का व्याकरण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि मागधी मगध की भाषा रही है। लेकिन इस तथ्य से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है कि मागधी पालि के नाम से विकसित होकर धीरे—धीरे व्याकरणादि नियमों में बँधती गई। कालांतर में जिस रूप में इसका विकास हुआ वह विद्वानों और पढ़े—लिखे लोगों के पास चली गयी। इसने अपने—आप को बौद्ध दर्शन और साहित्य का माध्यम बनाया। बाद में इसका और विकास हुआ। फलत: मगध क्षेत्र के अलावे सुदूर के क्षेत्रों में इसे 'भाषा' के रूप में अपनाया गया। इसलिए इसमें स्थानगत विशेषताओं का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही है। दूसरी ओर जन—सामान्य की भाषा गतिशील रही, जिसे हम प्राकृत के रूप में जानते हैं। कालांतर में इसी प्राकृत ने साहित्यिक रूप ग्रहण किया। प्राकृत के अन्य रूपों में मागधी प्राकृत का विशेष स्थान है। यह मागधी प्राकृत मगध ा की भाषा थी। इसी को सम्राट अशोक ने अपनी राजभाषा बना कर दूर—दूर तक फैलाया। ई० पू० चौथी शताब्दी में जब मगध का साम्राज्य चमका तो लक्ष्मी के साथ—साथ सरस्वती ने भी मगध में पधार कर इसे संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र बना दिया। फिर तो स्थिति बिल्कुल ही बदल गयी। इसमें उत्पन्न बौद्ध—जैन जैसे महान दार्शनिक सम्प्रदाय जो कि सिंधु की ओर फैलते जा रहे थे, और भी सहायक हुए। फलत: मगध सभ्यता का केन्द्र बन गया और अपनी भाषा को सारे भारत में सम्मानित करने में सफल हुआ।[६] इसकी पुष्टि डॉ० भरत सिंह उपाध्याय ने भी की है, ''मगध साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो यही मानना उक्ति संगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ।''[७] इससे स्पष्ट होता है कि मगध की

भाषा उस समय अपने विकास की चरम सीमा पर थी। इसी में राज—काज और धार्मिक साहित्यिक रचनायें हुआ करती थीं। अशोक ने अपने शिलालेख में इसी मागधी प्राकृत का प्रयोग किया है। यद्यपि स्थान विशेष का प्रभाव उन शिलालेखों में मिलता है, फिर भी कहीं—कहीं इसका मूल रूप विद्यमान है। रामगढ़ की पहाड़ियों की गुफाओं और बोधगया आदि के प्रकीर्ण लेखों में ईसा की पहली शताब्दी की मागधी प्राकृत का रूप मिलता है। दूसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक की मागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप 'अश्वघोष' में मिलता है।[८]

प्राकृतों के विकास के साथ इसके व्याकरणादि की रचना होने लगी। इसे भी व्याकरण के नियमों से बाँध दिए जाने के कारण इसका स्वाभाविक विकास रुक गया और उधर जन—सामान्य की भाषा गतिशील रही जिसका विकास अपभ्रंश के रूप में हुआ।

अपभ्रंश मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा और आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के बीच की कड़ी है। मागधी प्राकृत नाम की तरह मगध की अपभ्रंश को मागधी अपभ्रंश कहा गया। विद्वानों ने इसी मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बांग्ला, उड़िया और असमिया का विकास माना है। बिहारी के अन्तर्गत मगही, मैथिली और भोजपुरी, अंगिका का नाम लिया जाता है।

चाहे मागधी हो अथवा मागधी प्राकृत या मागधी अपभ्रंश, निश्चय ही इसका मूल केन्द्र मगध रहा है। मगध क्षेत्र की भाषा होने के कारण इन नामों के पूर्व ''मागधी'' स्थानवाची विशेषण जोड़ा गया। इसलिए मागधी का विकास जब दूसरे क्षेत्र (मगध को छोड़कर) में हुआ तो उसकी क्षेत्रीयता से प्रभावित होकर उसका विकास परिवर्तन की दिशा में हुआ। यह कोई नयी बात नहीं है। आज खड़ी बोली हिन्दी और राष्ट्रभाषा हिन्दी के बीच भी यही स्थिति है। गत्यात्मक रूप से विकसित आज की मगही के पूर्व स्वरूप, जो सिद्ध साहित्य में सुरक्षित है, को देखा जा सकता है। यही कारण है कि सिद्ध साहित्य पर दावा करने वाली अन्य भाषाओं की अपेक्षा वर्तमान मगही से उसकी (सिद्ध साहित्य की भाषा) अधिक समता है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने मगही भाषा के विकासात्मक इतिहास को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है[९] :

१. अशोक के पूर्व की मागधी	: ई० पू० ६०० से ३०० तक (अनुपलब्ध)
२. अशोक की मागधी	: ई० पू० ३०० से २०० तक (सुलभ)
३. अशोक के पीछे की मागधी	: ई० पू० २०० से ई० सन् २०० तक (दुर्लभ)
४. प्राकृत मागधी	: ई० सन् ५०० तक (सुलभ)
५. अपभ्रंश मागधी	: ई० सन् ५०० से ७०० तक (अनुपलब्ध)
६. मगही प्राचीन	: ई० सन् ८०० से १२०० तक (सुलभ)
७. मध्यकालीन मगही	: ई० सन् १२०० से १६०० तक (अनुपलब्ध)
८. आधुनिक मगही	: ई० सन् १६०० से... (जीवित)

इस तरह यह कहना समीचीन होगा कि मगही भाषा का अतीत बहुत ही गौरवमय रहा है। मगध के इतिहास की तरह मगही भाषा अपने समय के थपेड़े खाती—खाती आगे बढ़ती रही

है। इसे ही भगवान बुद्ध की प्रवचन–भाषा, बौद्ध साहित्य की भाषा, अशोक के शिलालेख की भाषा और बौद्ध सिद्धों की साहित्यिक भाषा बनने का अवसर मिला है। 'भाषा बहता नीर' के कारण वर्तमान काल की मगही और प्राचीन काल की मगही में जो अंतर मिलता है वह स्वाभाविक है; फिर भी प्रकृति और प्रवृत्ति पर विचार किया जाय तो भाषा वैज्ञानिक अक्षुण्णता मिल जायगी।

मागधी प्रसूत भाषायें और मगही :

नवजगरण काल की चेतना ने लोगों को सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और भाषायी परंपराओं की तलाश के लिए प्रेरित किया। फिर खण्डहरों, भग्नावशेषों और शिलालेखों की महत्ता समझी। यहाँ तक कि लोक साहित्य से लेकर दंतकथाओं और किंवदन्तियों आदि का अन्वेषण होने लगा। ठाकुरबाड़ियों, तहखानों, खानकाहों, राजाओं, जमींदारों आदि द्वारा रक्षित दस्तावेजों में अपने प्राचीनतम अस्तित्व और अस्मिता की संभावनायें जागीं और उसकी निरंतर खोज चलती रही। खुदायी से मिले अवशेषों, मूर्तियों और शिलालेखों आदि ने उस चेतना को और भी गतिशील बना दिया। पुरातात्त्विक अध्ययन के मार्ग खुले।

अपनी सांस्कृतिक परंपराओं की खोज में लोगों का ध्यान भाषा साहित्य की ओर गया। इसके लिए लोक साहित्य, लोककंठ और अतीतकालीन भाषा साहित्य को समझाने–परखने का काम हुआ। देश–विदेश के मंदिरों, मठों, पुस्तकालयों से सामग्रियाँ खोजी गईं। इस दिशा में हरप्रसाद शास्त्री, सुनीति कुमार चटर्जी, और महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि का नाम विशेष रूप से लिया जायगा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन तो ऐसी सामग्रियों को तिब्बत से खच्चर पर लाद कर लाये। ये सामग्रियाँ भाषा साहित्य की परंपरा को निर्धारित करने में विशेष महत्व की चीज साबित हुईं। लेकिन अवशेषों के स्वरूप, सामग्रियों की अल्पता और कहीं–कहीं भावात्मक आग्रहों ने मिलकर जो विचार प्रस्तुत किये, उससे निर्णयात्मक और वैज्ञानिक निष्कर्ष संदेहास्पद होने लगा। तभी तो बहुत दिनों तक विद्यापति का अस्तित्व बंगाल में बना रहा। यह क्षेत्रीय आग्रह का परिणाम था। फिर भी कुछ ऐसे विद्वान चिंतक अवश्य हुए जिनकी तटस्थता प्रामाणिक चिंतन उपस्थित करती रही।

जैसा कि प्रमाणित हो चुका है कि मागधी अथवा मागधी प्राकृत मगध की भाषा थी जिसमें भगवान बुद्ध ने अपना प्रवचन दिया था। कालांतर में इसी मागधी अपभ्रंश में सिद्ध साहित्य की रचना हुई। सिद्ध साहित्य की भाषा के संबंध में वही विवाद खड़ा हुआ, जो कभी विद्यापति के संबंध में हुआ था। यह सही है कि मागधी अपभ्रंश से मैथिली, भोजपुरी, असमिया आदि का विकास हुआ। लेकिन अस्मिता की तलाश में कहीं–कहीं आग्रहों का इतना दबाव रहा कि सिद्ध साहित्य की भाषा विवादास्पद हो गई। मागधी प्रसूत होने के कारण इन भाषाओं की आंतरिक एकता स्वयंसिद्ध है। इसी आन्तरिक एकता के आधार पर लोगों ने एक–दूसरे की अस्मिता को नजरअंदाज कर दिया। यही कारण है कि बहुत दिनों तक विद्यापति बंगला के कवि माने जाते रहे। इतना ही नहीं, महामहिम हरप्रसाद शास्त्री, बी० एन० भट्टाचार्य और सुनीति कुमार चटर्जी ने ''बौद्धगान ओ दूहा'' की भाषा

को पुरानी बंगला कहा। श्री बरूआ ने इसे पुरानी असमिया कहा। श्री प्रहराज और प्रियरंजन सेन ने इसे पुरानी उड़िया और जयकांत मिश्र ने मैथिली कहकर संबोधित किया।[१०]

कुछ इसी तरह की बात बिहारी भाषाओं के साथ भी है, जिसमें भोजपुरी की भाषागत विशेषता सबसे अलग है। बात रह गई मगही और मैथिली की, तो इस संबंध में डॉ० इकबाल सिंह राकेश ने मैथिली को साहित्य सम्पदा की दृष्टि से अपनी बहनों (मगही, भोजपुरी आदि) में सबसे प्राचीन माना है। लेकिन यह कितना वैज्ञानिक है, जबकि वे स्वयं विद्यापति को मैथिली का प्रथम कवि घोषित करते हैं।

जहाँ तक मैथिली और मगही के भाषागत अस्तित्व का प्रश्न है तो इस संबंध में डॉ. जयकांत मिश्र और प्रो. श्रीकांत मिश्र ने मगही को मैथिली की उपबोली घाषित किया है : ''मगही नाम की एक उपभाषा प्राचीन मगध साम्राज्य के केन्द्र में बोली जाती रही है।... बहुत भेद रहते हुए भी मैथिली के साथ इसके अन्यतम साम्य और आधुनिक काल में इसके कोई अपने स्वतंत्र अस्तित्व के अभाव को देखकर यही उचित मालूम होता है कि मगही भाषी लोगों को हिन्दी प्रान्त (भोजपुरी) के साथ मिलाने की अपेक्षा मैथिली भाषा प्रान्त के संग मिलाने में अधिक सुविधा होगी।''[११] अपनी इस बात की पुष्टि के लिए उन्होंने ग्रियर्सन के इस तथ्य का सहारा लिया है कि ''मगही को एक स्वतंत्र बोली मानने की अपेक्षा आसानी से मैथिली की उपबोली के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।[१२] सुभद्रा झा ने भी यही माना है।[१३] ऐसा लगता है, मानो जिस तरह मगध पर बार–बार आक्रमण होते रहे उसी तरह इसके भाषायी अस्तित्व के ऊपर भी आक्रमण की परंपरा बनी रही। ऐसे लोगों के पास या तो सामग्रियों का अभाव रहा अथवा मगध की राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक व भाषायी इतिहास की पृष्ठभूमि की जानकारी से अनभिज्ञ रहे। स्पष्ट हो चुका है कि बिहार की अन्य भाषायें मागधी प्रसूत हैं, मगही मागधी प्रसूत नहीं, मागधी–विकसित है। दूसरी बात यह कि मागधी भाषा क्षेत्र मगध का गौरवमय इतिहास रहा है। मिथिला से अलग इसकी सांस्कृतिक परंपराएँ रही हैं। तीसरी बात यह कि मिथिला बहुत दिनों तक मगध के अधीन रहा है। ज्ञात हो कि विजयी की भाषा विजीत पर लागू होती है न कि विजीत की विजयी पर। इन सब के अतिरिक्त मिथिला और मगध के बीच गंगा जैसी भाषा विभाजक नदी बहती है। स्पष्ट है कि मगध का गौरवपूर्ण अतीत, विपुल लोक साहित्य और परिनिष्ठित साहित्य तथा प्राचीन काल से इस क्षेत्र में राजधानी की परंपरा के बावजूद मगही भाषा के अस्तित्व पर प्रश्न लगाया जाय, तो बात कितना हास्यास्पद हो जायगी। अगर आन्तरिक एकता को लेकर मगही को मैथिली की उपबोली कहा जाता है, तो मैथिली को पहले बंगला से हिसाब करना होगा। बिहारी भाषाओं के व्याकरण रूपों की समानता न केवल मगही और मैथिली के बीच है अपितु भोजपुरी के बीच भी विद्यमान है। ऐसा प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. उदयनारायण तिवारी ने स्पष्ट किया है।[१४]

इस समस्या पर अपना तटस्थ निर्णय देते हुए महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने कहा कि ''ब्रजभाषा को कोई गुजराती बनाने की कोशिश नहीं करता, फिर मगही और मैथिली के बारे में ऐसा क्यों?... मगही, मैथिली, उड़िया और आसामी को खड़ी करने पर सर्वप्रथम किसे स्थान मिलना चाहिए ? मगही को ही न।''[१५] स्वयं जयकांत मिश्र ने भी इस बात को स्वीकार किया

है कि Maghi is in a way the most direct remsnt of the ancient Maghdhi Prakrit.[१६]

डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में ''हिन्दी का प्रारंभ 'मगही' भाषा में उन सिद्धों की कविता से हुआ, जिन्होंने बौद्धधर्म के वज्रयान सिद्धान्त का प्रचार आठवीं शताब्दी से करना प्रारंभ किया।''[१७]

इस तरह मागधी प्रसूत भाषायें और उसके अस्तित्व की तलाश निरंतर जारी है। बिहार की प्रमुख भाषाओं में मगही को मागधी से प्रसूत होने का नहीं, मागधी से विकसित होने का गौरव प्राप्त हुआ है। यह सत्य है कि इसमें विद्यापति और भिखारी ठाकुर नहीं हुए, फिर भी मगही के पास अपना इतिहास है, सिद्ध साहित्य रूपी धरोहर है और समृद्ध वर्तमान है। वर्तमान में मगही साहित्य की विपुलता, पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन, मगही अकादमी, आकाशवाणी केन्द्र, पटना से स्वतंत्र प्रसारण और शिक्षण संस्थानों में पठन–पाठन की व्यवस्था आदि इसके स्वतंत्र अस्तित्व की जागृत पहचान है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और मगही :

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ मगही की जितनी समानता है उतनी बिहार की अन्य भाषाओं के साथ नहीं है। यों तो बिहारी भाषाओं के बीच आंतरिक एकता है, फिर भी इन भाषाओं की कुछ अपनी विशेषतायें हैं, जो इन्हें एक–दूसरे से अलग करती हैं। मगही की प्रकृति कुछ ऐसी है जिसके आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि बिहार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा इसका सीधा संबंध राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ हो जाता है। हम जानते हैं कि भाषाओं की सहायक क्रियायें बहुत दूर तक उसकी प्रकृति को निर्देशित और निर्धारित करती हैं। मगही की वर्त्तमानकालिक सहायक क्रिया 'हइ' है, जो हिन्दी के 'है' से समता रखती है। अन्य भाषाओं में बिहार की भोजपुरी में इसके लिए 'बा, बाड़न, बाटे, बानी या बानू' का प्रयोग होता है। मैथिली में 'अछि, छी, छै' का प्रयोग होता है। इसी तरह आप के लिए भोजपुरी में 'राउर' का प्रयोग होत है लेकिन मगही में 'आप', अपने' का। यथा –

हिन्दी	**मगही**	**भोजपुरी**
आपका क्या नाम है?	अपने के की नाम हइ?	रउआ/राउर के का नाम बा?

राष्ट्रभाषा हिन्दी का 'तू' मगही में ज्यों का त्यों (कहीं–कहीं अनुनासिकता के कारण 'तूँ') रह जाता है। इसी तरह 'तुम' के लिए मगही में 'तों' और तुम्हारा' के लिए 'तोर' तोहर,' और 'तेरा' के लिए 'तोरा' का प्रयोग होता है, जबकि बिहार की अन्य भाषाओं में ऐसा नहीं होता है। मगही का वाक्य विन्यास राष्ट्रभाषा हिन्दी के समान है।

ध्वनि परिवर्तन :

(क) मगही में 'र' ध्वनि है, फिर भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनका 'र' 'ल' में बदल जाता है। जैसे :

हिन्दी	**मगही**	**हिन्दी**	**मगही**
फलना	फरना	जलना	जरना
ढालना	ढारना	गाली	गारी
साला	सारा	साली	सारी
ससुराल	ससुरार	कलेजा	करेजा
हल	हर	फाल	फार
कुदाल	कुदार	कुदाली	कुदारी
काली	कारी	उजला	उजरा आदि

(ख) मगही में 'श', 'ष' के सथान पर 'स' की प्रवृत्ति है। जैसे –

हिन्दी	**मगही**	**हिन्दी**	**मगही**
शिव	सिव	आशा	आसा
आकाश	आकास	भाषा	भासा
अभिलाषा	अभिलासा	निराशा	निरासा

(ग) कहीं–कहीं 'ष' 'ख' या 'स' में बदल जाता है। जैसे :

विष– विख, दोष– दोख/दोस, धनुष– धनुख/धनुस

(घ) मगही में 'ण' का 'न' हो जाता है। जैसे :

कारण– कारन, प्राण– परान, व्याकरण– वेयाकरन

(च) मगही में 'ऋ' का 'रि', 'त्र' का 'त्त/र', 'ज्ञ' का 'ग्य'/गे' हो जाता है। जैसे :

ऋषि– रिसि, पत्र– पत्तर/पत्ता, ज्ञान– गेयान/ग्यान, ज्ञानवान– गेयानमान/ग्यानमान

(छ) उपसर्गों में किसी तरह का परिवर्तन नहीं होता है, लेकिन प्रत्यय में परिवर्तन संभव है। धातु में लगनेवाला 'ना' प्रत्यय का 'नइ' हो जाता है। जैसे :

पढ़ना– पढ़नइ, लिखना– लिखनइ, जाना– जनइ, खाना– खनइ, बैठना– बइठनइ, गाना– गनइ, उठना– उठनइ, सोना– सोनइ, चलना – चलनइ आदि।

(ज) 'वान' प्रत्यय 'मान' में बदल जाता है। जैसे :

गाड़ीवान– गाड़ीमान, कोचवान– कोचमान, विद्वान– विदमान आदि।

(झ) 'आई प्रत्यय 'आय' में बदल जाता है। जैसे :

पढ़ाई– पढ़ाय, लिखाइ– लिखाय, मिठाई– मिठाय, लड़ाई– लड़ाय, बड़ाई– बड़ाइ,

जमाइ– जमाय

(ट) भूतकालिक (पूर्ण) प्रत्यय 'आ' अथवा 'या' प्रत्यय के लिए मगही में 'लक' का प्रयोग होता है। जैसे :

प्रत्यय	**धातु**	**शब्द**
आ	पढ़	पढ़ा – पढ़लक
आ	लिख	लिखा– लिखलक
या	सोना	सोया – सोलक/सुतलक

(ठ) भाववाचक 'इमा' प्रत्यय का मगही में 'इया' हो जाता है। जैसे :

मधुरिमा– मधुरिया, कालिमा– करिया

(ड) 'वाला' प्रत्यय 'हार, हरबा, हारा' और 'अइया' में बदल जाता है। जैसे :

देखनेवाला– देखनहार, देखनहारा, देखबइया,

पढ़नेवाला– पढ़निहार, पढ़बइया,

करनेवाला– करनिहार, करबइया,

इसी तरह 'वाला' कहीं–कहीं 'वला या 'ओला' रूप में भी मिलता है। जैसे :

जानेवाला–जायवला/जायओला/जवइया,

आनेवाला– आवइवला/आवइओला/अवइया आदि।

मगही की शब्द संपदा :

भाषा की प्रकृति उसके शब्द विन्यास और शब्द संपदा से दिखाई पड़ती है। भाषा–विशेष के शब्द उसकी कोमलता अथवा परुषता के परिचायक होते हैं। भाषा की प्रकृति का निर्धारण इससे भी होता है कि जब किसी अन्य भाषाओं के शब्द उस भाषा में आते हैं तो उसके परिवर्तन की दिशा किस रूप में होती है। ज्ञात हो कि एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा में आते हैं तो उसमें ध्वनि परिवर्तन होता है। मगही की भी अपनी शब्द संपदा है। मगही की शब्द–रचना अथवा शब्द संपदा को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कोमलता मगही की अपनी प्रकृति है। यहाँ मगही के कुछ शब्दों को प्रस्तुत किया जा रहा है :

मगही शब्द : अन्नस, अउंखा, उदवास, उरेहल, उखविख, सुरता, सेराल, सवासिन, सिझल, भुरकुस, सपरनइ, डगरिन, छुच्छुम, चसका, चोख, सितुआ, टहपर इंजोरिया, घुप्प अन्हरिया, बदरकु, माँड़र, पनछोछर, परसौत, परसन, पलानी, पोहपित, फरहर, बउसाव, बापुत, बित्ता, बेगार, बोहनी, बीहन, बिहान, भदराह, भरता, भदेस, भनसार, भुरकुस, भूर, मटकोर, मसकल, मसुआल,

मिंझाल, मुआर, रउद, साइत, सितुआ, सिलपट, हकासल, हुज्जत, हिलोर, हिलकोर, हिंड़ल, हिगराल, हेहर, हौ/हव, हौआल/हवआल इत्यादि।

शब्द–युगल : मगही में शब्द–युगल की प्रवृत्ति मिलती है। इसके अन्तर्गत दो शब्दों का मेल होता है। कभी एक ही शब्द की पुनरुक्ति से शब्द–युगल बनता है, कभी विपरीतार्थक शब्दों के मेल से और कभी–कभी सार्थक शब्दों के साथ निरर्थक शब्द लगाकर शब्द–युगल बनाया जाता है। जैसे :

पुनरुक्ति : घुमा–घुमा, पीछु–पीछु, हाली–हाली, लुरेठ–लुरेठ, सले–सले, बेर–बेर, हउले–हउले, पातर–पातर, गुजुर–गुजुर, सुनते–सुनते, गइते–गइते, खइते–खइते, पीते–पीते, साँय–साँय, कभियो–कभियो इत्यादि।

समान अर्थवाले भिन्न शब्द–युगल : राँड़–बेवा, जोर–पगहा, खम्हा–खुट्टा, चीरल–फारल, हल्ला–गदाल, गरदा– धूरी, झंडा–पताखा, कूड़ा–कचरा, डोल–बालटी, रगड़इत–मंजइत, पियासल–तरासल, घिस्सल–पिस्सल, जउर–पगहा इत्यादि।

विपरीतार्थक शब्द–युगल : आगू–पाछू, ऊपर–नीचे, अनइ–जनइ, देखा–सुनी, कउर–घोंट, अंगना–ओसरा, एन्ने–ओन्ने, आवा–जाही, आल–गेल, सांझ–बिहान, दिन–दोपहरिया रात–अन्हरिया इत्यादि।

निरर्थक शब्दों से युगलबंदी : नामी–गिरामी, चिरइं–चिरगुन, बचल–खुचल, तनी–मनी, लेटल–पोटल, चोरी–चमारी, पान–पतउरा, अन्हार–पन्हार, चोर–चिल्लर, मइल–कुचइल, जुआन–जहान, गरदा–गुवार, लगुआ–भगुआ इत्यादि।

युगल शब्दों से शब्द विन्यास : उक्खि–विक्खि, साथी–संगी, सोंटल–सिलोर, सिक्खा–बुद्धि, दिक्कत–सिक्कत, अहल–बहल, मिलल–जुलल, कुली–कलाला, कउर–घोंट, लुत्ती–पुत्ती, गोल–गंटा, रोजी–रोटी, चुक्को–मुक्को इत्यादि।

इस तरह मगही बिहार की अन्य भाषाओं के साथ भिन्नत्व का निर्धारण करती है। इसकी प्रकृति और प्रवृत्ति में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनसे यह राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ समानता स्थापित करते हुए बिहार की अन्य भाषाओं से अपना अलग स्वरूप ग्रहण करती है।

सन्दर्भ :
१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, पृष्ठ १२०
२. अथर्ववेद संहिता, का० ५, सूत्र २२
३. हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास, उदयनारायण तिवारी
४. बुद्धिष्टिक स्टडीज, डॉ० लाहा द्वारा संपादित, पृष्ठ ६४९
५. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०
६. पुरातत्व निबंधावली, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १८६
७. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ११४
८. संस्कृत और संस्कृति, डॉ राजेन्द्र प्रसाद, पृष्ठ ५६
९. गंगा पुरातत्वांक, जनवरी, १९३३
१०. मगही भाषा साहित्यिक निबंधावली, रासबिहारी पाण्डेय, पृष्ठ २८
११. मैथिली साहित्य का इतिहास, (डॉ० सम्पति आर्याणी की पुस्तक 'मगही व्याकरण कोश' पृष्ठ १४ से उद्धृत)
१२. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, भाग दो, पृष्ठ ३
१३. द फारमेशन ऑफ मैथिली लिट्रेचर, भूमिका
१४.'भोजपुरी भाषा साहित्य' में 'बिहारी बोलियों की आन्तरिक एकता' शीर्षक निबंध से।
१५. गंगा पुरातत्वांक, जनवरी, १९३३
१६. ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिट्रेचर, भाग १, पृष्ठ ५८

•••

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का भाषिक एवं व्याकरणिक चिंतन

*अरविंद कुमार

काल प्रवाह में भाषा स्वाभाविक रूप से भी परिवर्तित होती है और वाह्य कारणों से भी प्रभावित होती है। भाषा की स्थिरता, अस्थिरता या 'अनस्थिरता' पर बहसें बहुत पहले से चलती आ रही हैं। कभी–कभी यह बहसें दिलचस्प रूप से विवादित और ध्रुवीकृत भी नजर आती हैं। ऐसा प्राय: तभी होता है जब भाषा अपना स्वरूप ग्रहण कर रही हो, उसे व्यापक संभावनाएं दिखाई दे रहीं हों या फिर 'संकट का समय' नजदीक हो। आधुनिक हिन्दी को ध्यान में रखें तो ऐसे कालखंडों को आसानी से चिह्नित किया जा सकता है। आज जब 'हिन्दी की कृत्रिमता' और 'अन्ग्रेजी का संकट' ऐसी चर्चा के केन्द्र में है तो उस समय को याद करना स्वाभाविक और जरूरी है जब आधुनिक हिन्दी अपना वर्तमान रूप अख्तियार कर रही थी। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों की बहसें कालसापेक्ष तो थीं पर उनमें भाषा और व्याकरण संबंधी कुछ मूलभूत प्रश्नों पर भी विचार किया गया था। महावीरप्रसाद द्विवेदी और बालमुकुंद गुप्त के वाद–विवाद का प्रसंग हिन्दी आलोचना में प्रसिद्ध ही है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने भी, जिनकी ख्याति प्राय: 'उसने कहा था' से जुड़ी है, अपने कई लेखों और अत्यंत महत्वपूर्ण कृति 'पुरानी हिन्दी' में भाषा और व्याकरण के प्रश्न पर विचार किया है। गुलेरी जी संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, पंजाबी, मराठी, अन्ग्रेजी आदि भाषाओं के जानकार तो थे ही, सृजनात्मक साहित्य में भी रूचि रखते थे, इसलिए उनके चिन्तन का दोहरा महत्व है। इस लेख में भाषा और व्याकरण के प्रश्न पर गुलेरी जी के विचारों की चर्चा की जायेगी।

गुलेरी जी संस्कृत के पंडित थे पर भाषा का उनका आदर्श यह था कि ''भाषा वही जो बिना सीखे आवै, जो व्याकरण को अपना दास न बनाकर उसकी दासी बन गई, जिसने ठोकरों से न गिरूं यह विचार कर ली हुई लकड़ी को अपनी अनन्य आधारभूता बैसाखी बना ली, उसे भाषा नहीं कहा जा सकता। लैटिन, ग्रीक प्रभृति भाषाएं अपने अन्तकाल में व्याकरण के परवश बनी हैं, और इसके विरूद्ध अंग्रेजी, फ्रेंच प्रभृति भाषाएं व्याकरण को अपने साथ नचाती हैं।''[१] अपने लेखन के प्रारम्भिक दिनों से ही गुलेरी जी की इस विषय में रूचि थी। यह उद्धरण १९०४ ई. का है। नवम्बर १९०५ ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखकर हिंदी में भाषा और व्याकरण के संबंध में एक ऐतिहासिक बहस शुरू की। द्विवेदी जी और बालमुकुन्द गुप्त आदि के वाद–विवाद से जो ऊर्जा निकली, उसने गुलेरी जी के साथ–साथ उस समय के तमाम साहित्यकारों को एक संतुलित दृष्टिकोण विकसित करने में मदद की।

लिखित भाषा के लिए व्याकरण को अनिवार्य बताते हुए भी महावीर प्रसाद द्विवेदी

ने लिखा कि ''शब्दों के उत्पन्न होने के बाद व्याकरण उत्पन्न होता है। पहले शब्द, तब अनुशासन– पहले साहित्य, तब व्याकरण। पाणिनि का एक सूत्र है 'अथ शब्दानुशासनम्'। इसका नाम है अधिकार सूत्र यहाँ 'अनुशासन' में जो 'अनु' उपसर्ग है, वह इस बात को सूचित करता है कि शब्दों के अनन्तर उनका शासन किया गया है। अर्थात् पाणिनि ने सदा के लिए शब्दशास्त्र नहीं बनाया, किन्तु उनके समय तक शब्दों के जैसे प्रयोग होते थे, उन्हीं का उन्होंने अनुधवन किया है– उन्हीं के प्रयोग–सम्बन्धी नियम उन्होंने बना दिये हैं।''[२]

द्विवेदी जी ने लिखने और बोलने की भाषा में भेद किया था और दोनों के लिए अलग–अलग सिद्धांत स्थिर किए थे। बोलचाल की भाषा के लिए उन्होंने माना था कि 'व्याकरण भाषा की वृद्धि का अवरोधक है। यह भाषा की सजीवता का नाश करने वाला है। व्याकरण एक प्रकार की बेड़ी है जिससे भाषा की सारी संचरणशीलता चली जाती है।' पर लिखने की भाषा के लिए जरूरी है कि उसमें रोज–रोज बदलाव न हो। उसे अधिक समय तक स्थायी रखने, 'कालसह' बनाने के लिए व्याकरण अनिवार्य है।[३] बालमुकुन्द गुप्त ने इस बात का विरोध किया और कहा कि 'लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है जो बोलचाल की भाषा हो, मनघड़न्त न हो। उसी को बामुहावरा भाषा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ बोलचाल है... जो लेखक रोजमर्रह की भाषा नहीं लिख सकते, वह कितनी ही व्याकरणदानी से काम लें उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती है।'[४] इस वाद–विवाद का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि हर छोटा–बड़ा लेखक भाषा और शब्द–प्रयोग के प्रति अतिशय सावधान हो गया।

उस समय गुलेरी जी अपने लेखों के साथ–साथ 'समालोचक' में तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं की प्रगति पर छोटी–छोटी टिप्पणियां भी किया करते थे। द्विवेदी जी से सिद्धान्ततः सहमत होने पर भी उनके 'प्रचण्ड पाण्डित्य' पर उन्होंने लिखा कि यदि 'अनु' होने मात्र से यह अर्थ निकाला गया है तो अनुष्ठान– पीछे खड़े होना, अनुमान– पीछे नापना, अनुसार– पीछे रेंगना, अनुरोध– पीछे रोकना भी मानना चाहिए। साथ यह भी कि 'अथ शब्दानुशासनम्' पाणिनि का नहीं पतंजलि के महाभाष्य का पहला वाक्य है।[५] द्विवेदी जी को यह बात बड़ी नागवार गुजरी। उन्होंने कहा कि 'जिसके नकल किए हुए श्लोक में इम्ला की गलतियां तक उन्हें सुधारनी पड़ी हों, उसे 'शब्द–कौम्तुभ का कंठा' उतारकर रख देना चाहिए और अनुगमन, अनुसरण, अन्वक्ष, अनुचर–अनुपद और अनुज शब्दों का अर्थ याद करना चाहिए।'[६] एक–एक शब्द के प्रति इतने गम्भीर विचार–विश्लेषण के दूरगामी परिणाम हुए।

बालमुकुन्द गुप्त की तरह गुलेरी जी के लिए भी बोलचाल की भाषा आदर्श थी। इसीलिए वे व्याकरण की विशेष हिमायत नहीं करते है। संस्कृत का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि ''इस तिहरी जकड़न में; पाणिनि–कात्यायन–पतंजलि, संस्कृत भाषा का अङ्ग–भङ्ग हो गया और पतंजलि के पीछे के वैयाकरणों का इतिहास उन्नति का नहीं, अवनति का है।... भाषा की लहलहाती बेल को धूप और बरसात से बचाने के लिए जिस ग्लास–केस में बन्द किया था, उसने भाषा की सांस घोंट दी, वा यों कहिए कि बुढ़िया संस्कृत भाषा व्याकरण की लाठी के इतनी अधीन हो गई कि स्वच्छन्दता से चल–फिर न सकी।''[७]

भाषा और व्याकरण के सवाल पर गुलेरी जी ने केवल शास्त्रबद्ध ढंग से विचार न किया था। व्याकरण के स्थान पर वे भाषा के लोकव्यवहार को वरीयता देते थे। इसका व्यवहारिक कारण भी था। वे रचनात्मक लेखन की ओर झुक रहे थे और पत्र–पत्रिकाओं के संपादन आदि से भी जुड़े थे। ऐसे में सम्प्रेषण का महत्व उन्हें बखूबी समझ में आया। शास्त्रबद्ध शुष्क भाषा का प्रयोग विषय, को या तो छोटे से पंडित–वर्ग तक सीमित कर देता है या स्वान्तः सुखाय होकर रह जाता है। पग–पग पर व्याकरण की बंदिशों का पालन तो उसी भाषा में किया जा सकता है, जिसे लोग अपने बोलचाल में इस्तेमाल न करते हों। वे केशवराम भट्ट के उस मत का समर्थन करते हैं कि यदि 'संस्कृत भी आज प्रचलित भाषा होती तो पाणिनीय व्याकरण भी कभी ऐसा पत्थर की लकीर न होता।' व्याकरण के महत्व से भलीभांति परिचित होने के बावजूद वे लिखते हैं कि 'व्याकरण की जड़ पर भाषा बढ़ती है सही, किन्तु यदि उन जड़ों को गिनकर, नाप–तौलकर, जांचकर बढ़ने से रोका जाय और अन्धकार में से निकालकर सबको उंगलियों के नीचे रक्खा जाय, तो वे न बढ़ेंगीं और बेल के बढ़ने की आशा नहीं करनी चाहिए भाषा वही जो बिना सीखे आवै।''[८]

संस्कृत की परंपरा से परिचित व्यक्ति गुलेरी जी के इस स्वच्छंद चिंतन के महत्व को भलीभांति समझ सकता है। फिर गुलेरी जी तो इस परम्परा में प्रशिक्षित भी थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में जब यह बहस आकार ले रही थी, अधिकांश साहित्यकार संस्कृत व्याकरण को अपने सामने आदर्श रूप में रखते थे। इसलिए संस्कृत और उसके व्याकरण के संबंध को समझना जरूरी है। संस्कृत में वैयाकरणों, विशेषकर पाणिनि के नियम आर्षवाक्य माने जाते हैं। पाणिनीय का अर्थ ही शुद्ध हो गया है। 'पुरानी हिन्दी' में एक प्रसंग में गुलेरी जी लिखते हैं कि ''ऐसा; पाणिनि–सा, सर्वांगसुन्दर पूर्ण व्याकरण किसी काल में किसी भाषा में न बना।... विभु आकाश, समुद्र या विष्णु की तरह पाणिनि के व्याकरण की नाप न ईदृक्ता से हो सकती है न इयत्ता से। जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणों का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सब वैयाकरणों का उद्‌गम है।''[९] पाणिनि के महत्व को स्वीकार करने के बाद वे *अष्टाध्यायी* संबंधी उन रहस्यवादी मान्यताओं और अंधविश्वासों का प्रत्याख्यान करते हैं, जिनमें कहा गया है कि शिवजी के हुंकार–वज्र या विश्वामित्र के अनुग्रह से उसने यह ख्याति पाई। 'पाणिनि को जलाने, शिवकोप व विश्वामित्रानुग्रह की आवश्यकता न थी।' गुलेरी जी के अनुसार पाणिनि ने कुछ बातें पहले के वैयाकरणों से ग्रहण कीं, कुछ खुद चलाईं पर उसकी असली शक्ति उसकी लोकोन्मुखता में निहित थी। पाणिनि को अपने समय, समाज और मुहावरों की अद्‌भुत जानकारी थी। ''विपाशा के उत्तर तीर के वाहीक ग्रामों के कूप; पार्श्व, यौधेय आदि आयुधजीवी गण; ऋषियों और राजाओं के पितृक्रमागत नाम, नए और पुराने ब्राह्मण और कल्पसूत्र, उत्तरी और पूर्वी वाग्धरा के भेद; देखे हुए, बनाए हुए और कहे हुए वेद तथा ग्रंथ, यवनों की लिपि, सौवीर, साल्व और पूर्व की नगरियाँ तथा संकल का बनाया नगर, पशुओं के कानों पर पहचान के लिए बनाए गए चिह्न, द्यूत के खेल– कोई उसकी दृष्टि से न बचा।''[१०] वैयाकरण का लक्ष्य भाषा है और अपने लक्ष्य की इतनी विशद जानकारी से ही पाणिनि *अष्टाध्यायी* जैसा लक्षण–ग्रंथ रच सका।

पाणिनि के महत्व को स्वीकार करते हुए भी गुलेरी जी बार–बार रेखांकित करते हैं कि भाषा पहले है और व्याकरण बाद में। इस सत्य को न मानने वाले लोगों ने कालांतर में व्याकरण को वरीयता देना प्रारम्भ कर दिया था, ऐसे लोगों के लिए ही वे लिखते हैं कि ''जिन्होंने खान से निकला सोना नहीं देखा, टकसाल की मुहरवाले सिक्के ही देखे हैं, उनकी बोलचाल में अपाणिनीय का अर्थ अशुद्ध हो गया। पूर्व में सूर्य उगता है यह लोग भूल चले, सूर्य जिधर उगता है वही पूर्व है यह माना जाने लगा। व्याकरण और पाणिनि का अभेद संबंध हो गया, व्याकरण का या भाषा का अध्ययन न होकर पाणिनि का अध्ययन होने लगा। शब्द इसलिए साधु नहीं है कि वह प्रयुक्त है, इसलिए साधु है कि पाणिनि ने वैसा बनाना बताया है। लक्ष्यैकचक्षुष्क लोग घट गए, लक्षणैकचक्षुष्क बढ़ गए।''[११]

भाषा और व्याकरण का यह वही संबंध है जिसकी ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संकेत किया था। आगे चलकर किशोरीदास वाजपेयी ने भी इस बात पर जोर दिया कि व्याकरण लक्ष्यप्रधान शास्त्र है और वह 'शब्दानुशासन' है 'शब्दशासन' नहीं। वस्तुत: इस अर्थ में व्याकरण का काम सिपर्फ इतना है कि वह भाषा के लोकप्रचलित प्रयोगों का निरीक्षण करे। उनमें निहित समानता–असमानता के आधार पर नियमों को स्थिर करे। जितनी सफलता से प्रचलित भाषा के सम्बन्धसूत्रों का रेखांकन हो सकेगा व्याकरण उतना ही स्थायी होगा। इसीलिए गुलेरी जी लिखते हैं कि ''व्याकरण के सूत्र कोई नई चीज नहीं बना सकते। वे जो हैं उसी को नियम से रख देते हैं। 'अमुक सूत्र से ऐसा हुआ' इसकी जगह वैज्ञानिक रीति से यही कहना चाहिए कि 'ऐसा भाषा में होता है, उसका उल्लेख अमुक सूत्र में कर दिया गया है।''[१२]

नामवर सिंह ने लिखा है कि ''पाणिनि के व्याकरण ने गुलेरीजी को जिस तरह अन्धविश्वास तथा रहस्यवाद से मुक्त रहने की दृष्टि दी, उसी प्रकार एक ऐतिहासिक दृष्टि भी दी।''[१३] इस ऐतिहासिक दृष्टि का प्रयोग उन्होंने स्वयं पाणिनि के व्याकरण पर भी किया। गुलेरीजी का मानना है जिस संस्कृत भाषा का विवेचन 'अष्टाध्यायी' में किया गया है वह पाणिनि के समय जन भाषा थी। पाणिनि ने इसी भाषा को आधार बनाया और प्राय: वैदिक भाषा का विवेचन अपवाद की तरह किया। इससे भाषा के ऐतिहासिक स्तरों का पता लगाया जा सकता है। जैसे पाणिनि ने 'ब्रू' के कुछ रूपों की जगह 'आह' का होना, 'हन्' का 'वध्' हो जाना और 'अस्' का 'भू' हो जाना कहा है। गुलेरी जी के अनुसार इसका यही ऐतिहासिक अर्थ है कि 'आह', 'अस्' और 'वध्' धातुओं के पहले पूरे रूप होते होंगे, उस समय ये धातु अधूरे रह गए थे, पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुओं के रूपों में मिला दिया।

वे एक और उदाहरण देते हैं– 'पाणिनि के सूत्र से अल्पीयस् और यवीयस् की जगह 'कनीयस्' और 'अल्पिष्ठ' और 'यविष्ठ' की जगह 'कनिष्ठ' हो जाता है। इसका ऐतिहासिक अर्थ यह है कि 'कन्' का, जिसका अर्थ छोटा है, अकेले विशेषण की तरह उस समय तक व्यवहार होना बन्द हो गया था। पर 'कन्या' में वह मौजूद है। नेपाली कान्–छा (छोटा), हिंदी कन् + अंगुरिया, नारंगी की 'कन्नी' (फाँक) आदि में वह 'कन्' चलता आया है'। प्राकृत और अपभ्रंश के प्रसंग में भी गुलेरी जी भाषा के स्तरों को जानने की ओर प्रवृत्त हुए हैं। गुलेरी जी ने कात्यायन

और पतंजलि को पाणिनि की ही परम्परा में माना है। पाणिनि के समय जो जनभाषा थी वह धीरे–धीरे एक सीमित 'शिष्ट–समाज' की भाषा बनकर रह गई। साहित्यिक रचनाओं में उसका प्रयोग होता रहा पर लोक के बीच भाषा का प्रवाह आगे बढ़ गया। पतंजलि ने एक 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि कई अपभ्रंशों का उल्लेख किया है। कात्यायन और पतंजलि ने पाणिनि व्याकरण के मूल ढांचे को स्वीकार किया, साथ ही भाषा के इस प्रवाह का भी ध्यान रखा। ''यह व्याकरण के 'त्रिमुनि' हुए, इनका एक ही सम्प्रदाय रहा, इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक विवेक की वह बात उदारता से चली जो और किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं चली अर्थात् *यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्*। पाणिनि से कात्यायन, कात्यायन से पतंजलि अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उलटा है।''[१४]

पर धीरे–धीरे पाणिनिपूजा बद्धमूल हो गई। लक्षणग्रंथ प्रधान हो गए और लक्ष्य पीछे रह गया। इसका प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। वस्तुत: तत्कालीन समाज के लिए संस्कृत और संस्कृत–व्याकरण कभी भी केवल भाषा का मसला नहीं रहा। संस्कृत 'देववाणी' बन गई थी और व्याकरण 'वेदांग'। जैसे–जैसे भाषा का प्रवाह आगे बढ़ा, जनता के बीच संस्कृत का प्रभुत्व टूटा और प्राकृत, अपभ्रंश आदि नई–नई भाषाएं समय–समय पर सामने आईं। पर पण्डितों, शासन–सत्ता और उच्चवर्ग के मध्य संस्कृत का प्रभामंडल बना रहा। आज की तरह बोलचाल की भाषाओं का अध्ययन करने की ओर उस समय विद्वानों का ध्यान न गया था। इन नई उभर रही भाषाओं को जन–आकांक्षाओं का समर्थन भी मिला होगा। कभी–कभी राज्याश्रय भी मिला होगा। अपना 'व्याकरण' पाने के लिए इन भाषाओं को लम्बी दूरी तय करनी पड़ी होगी। क्योंकि केवल उसी भाषा को व्याकरणबद्ध करने की परम्परा रही है, जिसका साहित्य उपलब्ध हो। कामताप्रसाद गुरू और किशोरीदास वाजपेयी ने अपने व्याकरण–ग्रंथों की भूमिकाओं में रेखांकित किया है कि लिखित भाषा (प्राय: साहित्यिक भाषा) को ही व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है, जिससे व्याकरण का जन्म होता है।[१५] यों बोलचाल की भाषाओं को पहले लिखित रूप ग्रहण करना पड़ा होगा और जब उनमें साहित्य की रचना होने लगी होगी तब वे 'व्याकरण' के योग्य बनी होंगी। इसमें और भी कारकों का प्रभाव पड़ा होगा। उदाहरण के लिए गुलेरी जी लिखते हैं कि ''हिंदुओं के वेदांग पाणिनि व्याकरण से ही हमारा काम क्यों चले इसलिए बौद्ध, दिंगबर जैन और श्वेतांबर जैन व्याकरण बनाए गए।''[१६] हेमचंद्र के व्याकरण ग्रंथ 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' के लिए भी ऐसी ही एक कथा प्रचलित है, जिसमें भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से ईर्ष्या करते हुए सिद्धराज जयसिंह ने एक नए व्याकरण की रचना करवाने की ठान ली।[१७]

जो भी हो, संस्कृत–व्याकरणों का प्रभाव इतना ज्यादा था कि जब प्राकृत के व्याकरण रचे गए तो वे भी संस्कृत–व्याकरण के ढाँचे का आधार बनाकर ही आगे बढ़े। गुलेरी जी लिखते हैं कि ''प्राकृत व्याकरणों ने बद्धमूल संस्कृत को प्रकृति मानकर बद्धमूल प्राकृत का व्याकरण लिखा। संस्कृत से क्या–क्या परिवर्तन होते हैं, उन्हीं को गिना है। प्राकृत को भाषा मानकर नहीं चले।''[१८] हेमचंद्र इसी अर्थ में कह गया है कि 'प्रकृति: संस्कृतं तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्।' इसका मुख्य कारण गुलेरी जी यह मानते हैं कि इन प्राकृत व्याकरण–ग्रंथों की 'लक्ष्य प्राकृत

भी किताबी अर्थात् जड़ प्राकृत थी।' ऐसे ग्रंथ स्वाभाविक भाषा को आधार बनाकर नहीं चले। यहां तक कि ये व्याकरण–ग्रंथ किसी एक प्राकृत (प्राय: शौरसेनी या महाराष्ट्री) के आधार पर ही रचे गए हैं। अन्य प्राकृतों को इनके भेद की तरह दर्शाया गया है और उन पर विशेष विचार नहीं किया गया है।

इसीलिए गुलेरी जी को हेमचंद्र के व्याकरण ग्रंथ 'सिद्धहैमचन्द्रशब्दानुशासन' में यह 'ऐतिहासिक विवेक' की बात दिखी कि ''और वैयाकरणों की तरह वह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक–उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया।''[१९] इस 'ऐतिहासिक विवेक के साथ–साथ गुलेरी जी ने हेमचंद्र की लोकोन्मुखता को भी रेखांकित किया है। अपभ्रंश कविता उस समय पंडित वर्ग में विशेष प्रचलित न रही होगी इसलिए हेमचंद्र ने 'संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में उदाहरणों की तरह प्राय: वाक्य या पद ही दिए हैं किंतु अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएं, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिए हैं। यों उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रक्खे जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते।' भाषा और व्याकरण के संबंध में भी हेमचंद्र ने इस बात को ध्यान में रखा है। जैसे हेमचंद्र कहते हैं कि– ''कृष्ट, घृष्ट, वाक्य, विद्वस, वाचस्पति, विष्टरश्रवस् आदि शब्दों का, जिन्हें पहले कवियों ने प्रयोग नहीं किया, (प्राकृत में) प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि वैसा करने से प्रतीति में विषमता आती है। दूसरे शब्दों से ही उनका अर्थ कहा जाय जैसे कृष्ट के लिए 'कुशल' वाचस्पति के लिए 'गुरू', विष्टरश्रवा के लिए 'हरि' इत्यादि।''[२०]

इसका अर्थ यह है कि प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों में जो ध्वनि–परिवर्तन या रूप–परिवर्तन आदि के नियम दिए गए हैं, उनके आधार पर हर संस्कृत शब्द को 'तद्भव' या 'प्राकृत' में नहीं बदला जा सकता। जो शब्द कवि–परम्परा में ग्रहीत हैं, लोक में व्यवहृत हो रहे हैं, नियम उन्हीं का विवेचन करते हैं, उन्हीं नियमों से नए शब्द नहीं बनाए जा सकते। गुलेरी जी ने कई स्थानों पर महाभाष्यकार पतंजलि का यह मत उद्धृत किया है कि जैसे कुम्हार के यहाँ जाकर कह आते हो कि घड़े की जरूरत है, घड़ा बना दो, वैसे वैयाकरण के यहाँ जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द गढ़ दो, हमें प्रयोग करना है। यहाँ भी वही बात कि भाषा पहले अपने स्वाभाविक रूप में लोक में प्रवाहित होती रहती है और फिर नियम उन प्रयोगों के सम्बन्ध–सूत्रों और एकरूपता आदि की तलाश करते हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए किशोरीदास वाजपेयी कहते हैं कि 'नैसर्गिक प्रवाह में शब्दों का उच्चारण सौकर्य और श्रवण–माधुर्य बढ़ जाता है पर उनकी नकल पर यदि कोई शब्दों को तोड़–मरोड़ कर नया रूप देने का प्रयत्न करे तो उसकी प्रशंसा न होगी। उस तरह बलात् तोड़े–मरोड़े शब्दों को 'विकृत' ही कहा जाएगा, 'विकसित' नहीं। कली का स्वत: खिलना 'विकास' है ओर उसकी पंखड़ियों को नोच कर उभाड़ देना उसे विकृत कर देना है।[२१]

भाषा और व्याकरण के प्रसंग में गुलेरी जी की रुचि 'देशज' शब्दों में विशेष रही है। उन्होंने प्रदर्शित किया है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाएं समय–समय पर स्वयं को देशी के भंडार

से समृद्ध करती रही हैं। यह परम्परा अपभ्रंश में भी दिखती है, 'तत्सम' शब्दों की, जिन्हें 'संस्कृतसम' 'तत्तुल्य' और 'समान' शब्द भी कहते हैं, पहचान मुश्किल नहीं रही। पर 'तद्भव' शब्दों को, जिन्हें 'संस्कृतभव', 'संस्कृतयोनि', 'तज्ज', या 'विभ्रष्ट' शब्द भी कहते हैं, पहचानना आसान नहीं रहा। प्राय: लोप, आगम या वर्णविकार आदि से इनका संबंध तत्सम शब्दों से जोड़ा जाता है। पर कई विद्वानों का मानना है कि वास्तविक 'तद्भव' शब्द तो वे ही हैं, जो परम्परा के प्रवाह और लोकप्रयोग से घिस गए हैं। व्याकरण के नियमों को ध्यान में रखकर जो शब्द कृत्रिम रूप से निर्मित किए गए हैं, वे तद्भव नहीं 'भ्रष्ट' शब्द है। रामविलास शर्मा का कहना है कि नर–नारी के स्थान पर 'णर–णारी', अधर का 'अहर' लोचन–लोअण, विकाल–विआल, बल–वलुल्लड़ा, कान–कन्नडइ, कुल–उल जैसे परिवर्तन तद्भव से अधिक (अपभ्रंश नाम सार्थक करने वाले) भ्रष्ट रूप हैं।[२२]

देशी शब्दों की समस्या इससे भी जटिल है। पिशेल लिखता है कि ''देश्य अथवा देशी वर्ग में भारतीय विद्वान परस्पर विरोधी तत्त्व सम्मिलित करते हैं। वे इनके भीतर वे सब शब्द रख लेते हैं जिनका मूल उनकी समझ में संस्कृत में नहीं मिलता। संस्कृत भाषा के अपने–अपने ज्ञान की सीमा के भीतर या शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने में अपनी कम या अधिक चतुराई के हिसाब से देश्य शब्दों के चुनाव में नाना मुनियों के नाना मत है।''[२३] इन देशी शब्दों में क्रियावाचक शब्द बहुतायत से मिलते हैं, इन्हें वैयाकरण धात्वादेश अर्थात् संस्कृत धातुओं के स्थान पर बोलचाल की धातु कहते हैं। हेमचंद्र ने अपनी 'देशीनाममाला' में क्या लिया है, क्या नहीं लिया, एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है। पिशेल की तरह गुलेरी जी ने भी उसके यादृच्छिक चयन पर आपत्ति की है। वे लिखते हैं कि ''धातुओं में हेमचंद्र ने बड़ा अद्भुत काम किया है। एक धातु प्रधान मान लिया है। उसी अर्थ के और धातुओं को उसका आदेश मानकर झगड़ा तै किया है। जैसे कहइ (कथयति) धातु माना, अब बज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणाइ, संघइ, बोल्लइ, चवइ, जंपइ, सीसइ, साहइ को विकल्प से 'कहइ' का आदेश कह दिया है। उब्बुकइ को इनमें नहीं गिना क्योंकि उसे उत्+बुक से निकला माना है। यों देखा जाय तो बज्जरइ उज्जरति से, पज्जरइ प्रोच्चरति से, पिसुणइ पिशुनयति से, संघइ संख्याति से, जंपइ जल्पति से निकल सकता है। फिर हेमचंद्र कहते हैं कि 'औरों ने इन्हें देशी शब्दों में पढ़ा है किन्तु हमने धात्वादेश कर दिया कि विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित हो जायँ, ऐसा करने से बज्जरिओ– कथित, बज्जरिउफण– कथयित्वा आदि हजारों रूप सिद्ध हो जाते हैं।'' यह तो मनमानी हुई या तो इन्हें स्वतन्त्र धातु मानते, या इनके तद्भव और देशी की छाँट करते।''[२४] यहाँ पर पतंजलि का कुम्हार और घड़े वाला उद्धरण देकर गुलेरी जी वैयाकरणों को सावधान करते हैं। वे कहते हैं कि इनमें से बहुत सारी धातुएं वस्तुत: देशी धातुएं हैं, यह ध्यान रखना चाहिए। ''देशी के भंडार में से संस्कृतवाले 'संस्कृत' करके और प्राकृतवाले यों ही लेते रहे। पहलों ने यह नहीं कहा कि हमने लिया, वे यही कहते गए कि हमारा ही है। दूसरों ने देशी और तद्भवों की छांट न की, क्योंकि तद्भवों को अपने थोड़े से नियमों से ही बंध माना।''[२५] प्राय: विद्वानों ने 'साहित्यिक भाषाओं के दाय की ही व्याख्या की है, जबकि यहाँ गुलेरी जी का जोर इस बात पर है कि लोकभाषा के अगाध भण्डार से ही इन साहित्यिक

भाषाओं में समय–समय पर जीवन का संचार हुआ है। पिशेल ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा था कि प्राकृत की ऐसी बहुत सारी धातुऐं हैं, जिनका ''मूल रूप संस्कृत में बहुधा नहीं मिलता पर आधुनिक भारतीय भाषाओं के धातु इनसे पूरे मिलते–जुलते हैं। जैसा कि देशी शब्द के नाम से ही प्रकट है, ये शब्द प्रादेशिक शब्द रहे होंगे और बाद को सार्वदेशिक प्राकृत में सम्मिलित कर लिए गए होंगे।''[२६]

वस्तुतः यहीं 'ऐतिहासिक विवेक' की वह परम्परा है जो भाषा को व्याकरण से पहले रखती है और लोक–व्यवहृत भाषा को नियमों पर तरजीह देती है। व्याकरण के नियम भाषा को ध्यान में रखकर बनाए अवश्य जाते हैं, पर एक बार जब व्याकरण आकार ले लेता है तो वह भाषा पर 'शासन' करने का भी प्रयास करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है कि यथार्थ जगत से विचारों का निर्माण होता है, फिर ये विचार यथार्थ जगत को नियमित और प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। शेल्डन पोलॉक ने इसे एक भिन्न संदर्भ में 'यथार्थ का नियमन' (Normativity of Actual) और 'नियमन का यथार्थ' (Actuality of Normative) कहा है। इस तरह भाषा और व्याकरण के बीच का यह एक द्वंद्वात्मक संबंध है। हिन्दी में भाषाचिंतन की एक परम्परा रही है, जिसने भाषा को हमेशा प्राथमिक, लक्ष्य और आधारभूत माना है। साथ ही जनभाषा को साहित्यिक भाषा पर वरीयता दी है। गुलेरी जी भाषाचिंतन की इसी परम्परा के प्रतीक हैं।

सन्दर्भ :

१. गुलेरी रचनावली : खण्ड एक, सं. मनोहरलाल, जगतराम एण्ड संस, दिल्ली, २००९, पृ.३७०

२. हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, सम्पादक– भारत यायावर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली १९९३, पृ.११

३. हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, पृ.१३–१४

४.वही, पृ.६४

५.गुलेरी रचनावली, खण्ड एक, पृ.४३३

६.हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, पृ.४४ (द्विवेदी जी के पहले लेख पर जो वाद–विवाद हुआ, उसके उत्तर में उन्होंने फरवरी, १९०६ ई. में 'भाषा और व्याकरण' निबंध पर किए गए आक्षेपों के उत्तर शीर्षक से यह दूसरा लेख लिखा)

७.गुलेरी रचनावली, खण्ड १, पृ.३७०

८.वही

९.गुलेरी रचनावली, खण्ड २, पृ.९३–९४

१०.वही, पृ.९५–९६

११.वही, पृ.९६

१२.वही, पृ.११०

१३.नामवर सिंह, हिंदी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, २०१०, पृ.११०

१४.गुलेरी रचनावली, खण्ड २, पृ.९९

१५.कामताप्रसाद गुरू ने लिखा है कि ''व्याकरण के नियम बहुध लिखी हुई भाषा के आधार पर निश्चित किए जाते हैं, क्योंकि उनमें शब्दों का प्रयोग बोली हुई भाषा की अपेक्षा अधिक सावधानी से किया जाता है। व्याकरण में वे नियम समझाए जाते हैं जो शिष्ट जनों के द्वारा स्वीकृत शब्दों के रूपों और प्रयोगों में दिखाई देते हैं। देखें : कामताप्रसाद गुरू, हिंदी व्याकरण, प्रकाशन संस्थान, २०११किशोरीदास वाजपेयी के मत के लिए देखें 'हिन्दी शब्दानुशासन, पूर्व पीठिका, पृ.३

१६.गुलेरी रचनावली, खण्ड २, पृ. १०१

१७.देखें, शेल्डन पोलॉक, 'द लैंग्वेज ऑव गॉड इन द वर्ल्ड ऑव मेन: संस्कृत, कल्चर एण्ड पावर इन प्रि मॉडर्न इंडिया, परमानेंट ब्लैक, २००७, पृ.१८१–१८२ और ५८८–५९० पोलॉक ने यह कथा 'प्रभावकचरित' से उद्धृत की है। गुलेरी जी ने 'कुमारपाल प्रबन्ध' से भी ऐसी ही एक कथा उद्धृत की है।

१८.गुलेरी रचनावली, खण्ड २, पृ.११०–१११

१९.वही, पृ.१०२

२०.वही, पृ.७०

२१.किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन, नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २०५५ वि. (१९९८ ई.), पृ.४३

२२.रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली २००२, पृ.२३३

२३.आर. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु. हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५८, पृ.१३

२४.गुलेरी रचनावली, खण्ड २, पृ. ११२–११३

२५.वही, पृ.११३

२६.आर.पिशल, पृ.१४

•••

आलोचना :

हिन्दी–आलोचना और विचारधारा

***नीलांबुज सिंह**

आलोचना करना एक वैचारिक कर्म है। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, जब यह कहा जाये कि अमुक आलोचना, विचारधारा से प्रभावित या प्रेरित है। आलोचना का विवेक होना और विवेकवान आलोचना करना, ये दोनों अलग–अलग बातें हैं और 'विचारधारा' यहीं से आलोचना पर अपना प्रभाव डालती है। आलोचना, जिस रूढ़ अर्थ में प्रचलित है, वह रचना के बाद की प्रक्रिया है। यद्यपि रचना स्वयं जीवन की आलोचना ही है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने तो वाक्य को मूलत: जीवन की आलोचना ही माना था।[१] हर कवि या लेखक अपनी दृष्टि से समाज को, विश्व को परखता है, रचता है और पेश करता है– रचना के रूप में। यहाँ कुछ 'कवि–कर्म', (कुकर्म?) जो हर काल में होते आए हैं, उनसे आशय नहीं है। रचनाकार जब विषय का चयन करता है, 'विचारधारा' वहीं से रचना–आलोचना से जुड़ जाती है– इस तरह कि एक तो स्वयं उसमें (रचना में) अभिव्यक्त विषय में क्षण या काल–विशेष की संवेदनात्मक आलोचना, दूसरा, जब कोई आलोचक उस रचना पर विचार करेगा तो रचना की विचारधारा से तो वह टकराएगा ही, साथ में स्वयं आलोचक की विचारधारा भी रचना की पड़ताल करेगी ही।

कला के क्षेत्र में विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ता है। विभिन्न दार्शनिकों ने इसका गहन विश्लेषण और विवेचन किया है। साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और कभी–कभी तो संगीत कला में भी विचारधारा का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ हमारा ध्यान मुख्यत: साहित्यिक आलोचना और विचारधारा के सम्बन्धों पर होगा।

साहित्यिक आलोचना का पुराना इतिहास है, जिसे खंगालना वांछनीय नहीं है। प्राचीन यूनान में अरस्तु, लोंजाइनस, होरेस आदि कुछ नाम–मात्र काफ़ी हैं तत्कालीन विकसित आलोचना दृष्टि के लिये। आधुनिक आलोचना–शास्त्र के लिये भी हमें यूरोप का कृतज्ञ होना चाहिये। डॉ. जॉनसन, पोप, वाल्टेयर, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, इलियट आदि अनेक नाम हैं जिनकी फेहरिस्त लम्बी है। इन्हीं के लगभग साथ–साथ मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना जो मार्क्स–एंगेल्स, लेनिन, ग्रामशी, लुकाच, त्रात्स्की आदि से होकर रेमंड विलियम्स, रैल्फ फॉक्स और टेरी इगलटन तक आती है। भारतीय और उसमें भी हिन्दी–आलोचना पर विचारधारा के असर की चर्चा इस यूरोपीय परिवेश की पृष्ठभूमि में किया जाना असंगत न होगा, हालांकि यहाँ परिवेश आलोचकीय विवेक और विचारधारा वहाँ से भिन्न थे लेकिन, यह जरूर ध्यान रखना चाहिये कि जब यहाँ आलोचना–कर्म की शुरूआत हुई तब यह हिन्दी क्षेत्र उसी यूरोप के एक साम्राज्यवादी राज्य का उपनिवेश था। साम्राज्यवाद का शोषण और औपनिवेशिक विडम्बनाएं दोनों, आलोचक की विचारधारा पर असर डालेंगी।

*प्रवक्ता (हिन्दी), केन्द्रीय विद्यालय, बगाफा, सांतिर बजार, दक्षिण त्रिपुरा ७९९१४४ (त्रिपुरा)

हिन्दी आलोचना का जन्म या प्रारंभ भारतेंदु के 'नाटक' निबंध से माना जाता है जो १८८३ई. में प्रकाशित हुआ था। भारतेंदु ने इसमें एक बात लिखी है : ''प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।''[२] इस वाक्य में दो विचारधाराओं से वे प्रेरित हैं– पहली तो नवजागरण की मुक्तिकामी–चेतना की विचारधारा जो उस दौरान चल रहे तमाम सांस्कृतिक और सामाजिक आंदोलनों से आकार ले रही थी। दूसरी नाटक की, और प्रकारान्तर से पूरे साहित्य की जनोपयोगिता की। भारतेंदु परम्पराओं की लकीर पीटने की अपेक्षा नवीनता का स्वागत पसंद करते हैं और प्रयास 'व्यर्थ न हो' इसकी चिंता भी उन्हें इसीलिये है कि वह साहित्य को केवल 'स्वान्त: सुखाय' नहीं मानते। भारतेंदु के नाटक ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण हैं। हिन्दी की आलोचना का यह चरित्र युग प्रसाद, द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आदि से होती हुई लगातार विकसित हुआ है।

आलोचना, आलोचक की विचारधारा से ही नि:सृत होती है। लाल रंग देख कर किसी को क्रांति के निशान, ख़ून की याद आ सकती है तो किसी को प्रेमिका के रक्ताभ होठों की, अपने–अपने विचार। इसी क्रम में विचार, विचारधारा तब बनते हैं जब वे प्रभावशाली जन–समूह की वर्ग–चेतना का हिस्सा बन जाते हैं या बना दिये जाते हैं। साहित्यिक आलोचना में विषय चयन से मूल्य–निर्णय तक विचारधारा का हस्तक्षेप होता है। यह चयन भी कहीं न कहीं आपकी वर्ग–दृष्टि से परिचालित होता है।

हिन्दी आलोचना का इतिहास कुछ सौ–सवा–सौ ही वर्षों का ही है, लेकिन विवाद, जो वाद से निकले, सम्वाद कम ही बन पाये हैं। कारण कि उसका आधार रचनाशीलता से जुड़ाव के बदले विचारधारात्मक छिद्रान्वेषण और प्रतिउत्तरों की प्रबलता रहा है। हिन्दी में स्वतंत्रतापूर्व की आलोचना का विचारधारात्मक विश्लेषण कठिन नहीं है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी अनुशासन के हामी थे। बेकन से प्रभावित थे, गोल्डस्मिथ पसंद था और कालिदास, माघ, भवभूति का वे पारायण कर चुके थे। उन्होंने नये साहित्य को मानवोन्मुख बनाने और इसके लिये सरलता और 'निजभाषा' पर ज़ोर दिया। यह साधारण बात नहीं थी। साम्राज्यवादी ताकत के ख़िलाफ एक बिगुल के रूप में अपनी भाषा का उत्थान होने लगा। कविता, आलोचना, कहानी आदि क्षेत्रों में द्विवेदी जी की विचारधारा हावी थी।

आचार्य शुक्ल द्विवेदी युग से ही लिख रहे थे। वे आलोचना में कुछ मानदण्ड बनाकर उतरे– लोकमंगल, साधनावस्था, रस–सिद्धांत का पुनरोद्धार, साहित्येतिहास का वस्तुगत और वैज्ञानिक लेखन आदि। साहित्य को वे 'जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब' मानते थे और यही आधार लेकर उनका आलोचना–कर्म बढ़ा। शुक्ल जी की विचारधारा में विचारों की धाराएं भी मिल जाने से न तो नाक–भौं सिकोड़ने की ज़रूरत है न उसकी उपेक्षा कर आगे बढ़ने की। शुक्ल जी अपने पूर्वग्रहों के कारण, विद्यापति को 'फुटकर श्रेणी' में रखते हैं, कबीर का

सम्भावनापूर्ण मूल्यांकन भी नहीं कर सके लेकिन उनके पूरे आलोचकीय कर्म में जो विचारधारा प्रमुख थी वह थी लोकमंगल, जिस पर उन्होंने सूर, जायसी, तुलसी, घनानंद, भारतेंदु, प्रेमचंद आदि को परखा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हाशिये की परम्परा के सर्जक और शोधार्थी थे। परंपरा की प्रगतिशीलता ढूंढना उनका प्रमुख दाय है।

आलोचना में विचारधारा का साथ तो सदैव से रहा है लेकिन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना में यह खुलकर सामने आया। दरअसल, आलोचना से पहले रचनाशीलता में ही विचारध ारात्मक खाई उत्पन्न हो गई। १९३६ के प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद से ही यह सुगबुगाहट शुरू थी और प्रगतिवाद बनाम प्रयोगवाद के नाम से चल रही थी। बाद में 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' के नारों के बीच से ये मतभेद और भी बड़े बनकर निकले। अपने–अपने दर्शनों और विचारों का बौद्धिक शास्त्रार्थ दूसरों से किया जाने लगा। आलोचना की यह परम्परा आज भी चल रही है। १९३६ के बाद हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना का आरंभ हुआ। प्रकाशचंद गुप्त से शुरू होकर शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा ,डॉ. नामवर सिंह आदि तक इसका विकास हुआ और हो रहा है। दूसरी ओर की खेमेबंदी विचारधारात्मक ही थी, जो रूपवादियों के दल की थी, जिनमें अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी, धर्मवीर भारती आदि थे। कुछ आलोचक स्वतंत्र–चिंतक या कहें कि शास्त्रीय थे, जैसे– डॉ. नगेंद्र आदि।

मार्क्सवादी आलोचना रचना की आधार और अधिरचना में जाती है। उसके काल–बोध को पकड़ती है। इतिहास में उसका स्थान ही तय नहीं करती वरन् रचना से इतिहास को भी तय करती है। जनोन्मुख साहित्य की पक्षधरता इसमें होती है क्योंकि यह 'कला जीवन के लिए' सूत्र पर यक़ीन रखती है। मार्क्सवादी आलोचना रचना में जुड़े उन स्थलों और प्रसंगों की विस्तृत व्याख्या का प्रयत्न करती है जो जन–क्रांति से जुड़े हैं या सामाजिक क्रांति की किसी बात से। स्वभावत: मार्क्सवादी विचारधारा शासकवर्ग की विरोधी होती है अत: मार्क्सवादी आलोचना भी रचना के ज़रिये सत्ता की दमनकारी नीतियों का विरोध करती है।

आलोचना– संरचनावादी, विखण्डनवादी, रूपवादी या उत्तर आधुनिकतावादी– अंतर केवल या कमोवेश नाम का ही है। संदर्भ एक ही है कि रचना का कोई संदर्भ–प्रसंग नहीं। पाठ ही सब कुछ है। शायद इतने विश्वास से तो शंकराचार्य ने ब्रह्म के बारे में भी न कहा हो! तुर्रा– इतिहास का अंत हो गया है। गोया 'इतिहास' हिरोशिमा के किसी मुहल्ले में उस वक्त रहता था जब उस पर परमाणु बम गिरा दिया गया। असल में ये सब ढकोसले नये पूंजीवाद के सलोने जुमले हैं। साहित्य की संघर्षशील चेतना को ढाँप कर उसे रीतिवादी चौखटे में कैद कर देने की साज़िश है– लेकिन है ये भी एक विचारधारा ही। प्रसंगवश 'सरकारी' नामक विचारधारा का उल्लेख भी करना होगा। यह नौकरशाहों द्वारा 'तैयार' की जाती है और एक साथ उदार एवं क्रांतिकारी, जनोन्मुख और अभिजनोन्मुख होती है। इस तरह हम देखते हैं कि आलोचना और विचारधारा अपने–अपने पक्ष को रखती हुई साथ–साथ चलती है। विचारधारा, आलोचना को

प्रभावित करती है और कभी कभी पूरी तरह निगल जाती है। तब आलोचना का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है, क्योंकि आलोचक के पास विचारधारा का विवेक होना अच्छा है, लेकिन उससे ज़्यादा जरूरी है कि उसके पास रचना के मर्म का बोध हो, रचनाकार व कृति के इतिहास का बोध हो, तभी आलोचना सफल होगी।

सन्दर्भ :

१. Poetry, at bottom, is the critique of life – Matheu Arnold

२. भारतेंदु समग्र, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ. ५५९

•••

आलेचना :

पूछते हैं वह कि गालिब कौन है

कमलेश वर्मा

दलित–विमर्श ने कबीर को अपना प्रतीक बनाया है। कबीर की कविता दलित–विमर्श के सिद्धांतकारों और चिंतकों को राह दिखाने वाली मालूम पड़ती है। उन्होंने कबीर–साहित्य की पुनर्व्याख्या की है तथा पुरानी व्याख्याओं की अनेक महत्त्वपूर्ण मान्यताओं/स्थापनाओं को ख़ारिज भी किया है। उनसे जुड़ी हिंदू और मुस्लिम मान्यताओं को अस्वीकार करके कबीर को दलित–धर्म से जोड़ने के प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। अस्मितामूलक विमर्श के इस दौर में कबीर की यों खींचातानी स्वाभाविक है। डॉ. धर्मवीर ने यह हवा उड़ाई है। वे कबीर को दलित–चिंतन का प्रमुख आधार बनाते हैं। डॉ० धर्मवीर के इस प्रयास का मूल्यांकन करते हुए श्री सूरजपाल चौहान ने लिखा है, ''हिन्दी साहित्य में उन्होंने कबीर को लेकर ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अब कबीर के बारे में किसी और लेखक को पढ़ने से पहले उन्हें पढ़ना ज़रूरी हो गया है। वह कबीर को ब्राह्मणवादी खेमे से ऐसे निकाल कर लाए हैं कि गैर–दलित साहित्यकार देखते ही रह गए हैं।.... ''डॉ० धर्मवीर सही कहते है कि दलित चिंतन का सही दार्शनिक आधार कबीर की इकतारे पर गाई वह साखी है– 'उत ते कोई न आया, जासों पूछिए धाय'।... ''डॉ. धर्मवीर के शब्दों में– ''हम बाबा साहेब को बुद्ध से मुक्त कर लेंगे, वह हमें बहुत प्रिय हैं और हम उन्हें कबीर के घर में वापस ले आएँगे।'' (बहुरि नहिं आवना, संयुक्तांक : अक्टूबर, २०११–मार्च २०१२, पृ. ३९–४०) डॉ० धर्मवीर ने कबीर के आलोचकों से अपनी असहमतियाँ जताई हैं। कबीर के मूल्यांकन के लिए दलित–विमर्श की कसौटी को जोरदार तरीके से धारदार बनानेवाले डॉ. धर्मवीर हरिऔधजी के बारे में लिखते हैं, ''उन्हें कम से कम यह सोचकर ठिठक जाना चाहिए था कि वे कबीर के सामने उस हिन्दू धर्म की प्रशंसा कर रहे हैं जिसने कबीर को अछूत के रूप में पैदा किया था। वास्तव में यदि कबीर हिन्दू धर्म के किसी रूप में ऋणी हैं तो जाति जुलाहे के रूप में ऋणी हैं जिसके कारण रामानन्द ने उन्हें अपना शिष्य नहीं बनाया था। यदि कबीर जीवन भर किसी से लड़े हैं तो हिन्दू धर्म की देन इसी अस्पृश्यता के दैत्य से लड़े हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि हरिऔधजी कबीर को हिन्दू कहते हैं तो वह बात जानबूझ कर बरगलाने वाली लगती है।'' (कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९७, पृ. २९) डॉ० धर्मवीर कबीर को 'अछूत' भी बता रहे हैं और 'जुलाहा' भी। दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। डॉ० धर्मवीर का ज़्यादा ज़ोर 'जुलाहा' पर है, ''जुलाहा जाति में जन्म लेने के कारण कबीर को यह सामाजिक अनुमति प्राप्त नहीं थी कि वे काशी के द्विज मन्दिरों में चढ़ सकते थे।'' (वही, पृ. ४७) कबीर को जब 'जुलाहा' (धर्म–इस्लाम) मान ही लिया, तब मन्दिर की अपेक्षा क्यों? डॉ० धर्मवीर कबीर को 'दलितों का सन्त' मानते हैं, ''जो कबीर के साथ विद्वत समाज द्वारा आज हुआ है, वह एक परम्परा है और दलितों के अन्य सन्तों के साथ भी यही हुआ है।'' (वही, पृ. ८६) 'दलितों का सन्त' होने के लिए कबीर की योग्यता के रूप में डॉ० धर्मवीर पहले ही बता चुके हैं कि वे 'अछूत थे!' क्यों न हों। आज एक भी जुलाहा दलित नहीं है। दलित होने के लिए कबीर को 'जुलाहा'

*चाँदपुर (बेर का बगीचा) पोस्ट–इण्डस्ट्रियल इस्टेट, वाराणसी 06 मो. 09415256226

से मुक्त करना होगा! मगर डॉ० धर्मवीर कबीर को 'जुलाहा' और 'दलित' दोनों बताना चाहते हैं। ऊपर के उद्धरण में एक बात और ध्यान देने लायक है कि ब्राह्मणों ने जुलाहा जाति को अस्पृश्य कहने की जरूरत कहाँ महसूस की? ब्राह्मण के लिए जो जुलाहा विधर्मी था। जिस अर्थ में ब्राह्मण के लिए जुलाहा अस्पृश्य था, उस अर्थ में तो पूरा मुस्लिम समाज ब्राह्मण के लिए अस्पृश्य था। डॉ० धर्मवीर के कथन में अंतर्विरोध है। डॉ० धर्मवीर कबीर को 'जुलाहा' और 'मुसलमान' भी मानते हैं। उनका ज़ोर इस बात पर है कि कबीर को किसी भी तरह से 'हिन्दू' नहीं माना जा सकता, वे कबीर को जन्मना मुसलमान मानने के पक्ष में हैं। इस तरह, वे कबीर को 'जुलाहा जाति में जन्मा दलित मुसलमान' मान रहे हैं। उनके एक और उद्धरण के बाद कबीर की जाति की सामाजिक भूमि को ढूँढ़ना और मुश्किल हो जाएगा, ''लेकिन यहाँ लगे हाथ एक अगला प्रश्न यह भी पूछ लेना चाहिए कि क्या तब कबीर हिन्दू थे। मेरा उत्तर है– ''वे अपने विश्वास में भी हिन्दू नहीं थे। सच बात यह है कि कबीर किसी भी तरह के हिन्दू नहीं थे।'' (वही, पृ० ८६–८७) अब कबीर की जाति बनी 'जुलाहा जाति में जन्मा गैर–हिन्दू दलित मुसलमान'। इन सबसे कबीर के सामाजिक आधार को सुलझाना मुश्किल हो जाता है। और अंत में, एक और पहेली'', यह सच है कि कबीर न हिन्दू थे और न मुसलमान थे,... कबीर का धर्म हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म से सर्वथा अलग धर्म है। यह दलित धर्म है।''(कबीर : नई सदी में– ३,पृ.७) अर्थात्, कबीर न हिन्दू थे, न मुसलमान थे, न जुलाहा थे, उनकी पहचान यह थी कि वे दलित थे और दलित धर्म को मानते थे। अतः डॉ. धर्मवीर की उक्त धारणा के साथ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और प्रो० पुरुषोत्तम अग्रवाल की कबीर की जाति के बारे में मान्यताओं का परीक्षण यहाँ जरूरी हो जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को नाथपंथी बताते हैं। कबीर की जाति के बारे में द्विवेदीजी स्पष्ट राय नहीं रखते हैं। उनका सारा फोकस इस बात पर है कि कबीर को मुसलमान न माना जाए। विधवा ब्राह्मणी की अवधारणा को वे खारिज नहीं करते तथा कबीर को मूल रूप से हिन्दू समाज का व्यक्ति बनाए रखना चाहते हैं। वे अपनी पुस्तक 'कबीर' की पहली पंक्ति लिखते हैं, ''कबीरदास का लालन–पालन जुलाहा परिवार में हुआ था'',... (पृ. १५) मतलब, कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी से हुआ था! कबीर जन्मना हिन्दू थे, मुसलमान नहीं। कबीर के समाज को भी द्विवेदीजी मुसलमान मानने के पक्ष में नहीं थे, ''जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहे–जाति को अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।'' (वही, पृ. १७) द्विवेदीजी का अनुमान है कि कबीर का समाज सद्य:धर्मांतरित था। कोशिश यही है कि कबीर का संबंध इस्लाम से या मुसलमान बिरादरी से न जुड़ने पाए। इसके लिए साहित्य के इतिहासकार को रचनाकार की तरह इतिहास निरपेक्ष ललित कल्पना भले करनी पड़े कि 'ऐसा जान पड़ता है'। एक और उदाहरण, ''ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनता में तब भी कोरी नाम से परिचित थे।... प्रस्तुत लेखक यह नहीं मानता कि कोरियों का ही मुसलमान संस्करण जुलाहा है।... यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार–बार जुलाहा कहते हैं, वहाँ कभी–कभी अपने को कोरी भी कह गए हैं।'' (वही, पृ. १८) 'ऐसा जान पड़ता है' की शैली में तथ्य खोजना मुश्किल काम है।

द्विवेदीजी के इस छोटे–से उद्धरण में कई तरह की बातें एक साथ आई हैं, जिनमें से कबीर की जाति का पता लगाना टेढ़ा काम है। कबीर अपनी जाति 'जुलाहा' (कभी–कभी 'कोरी') बताते हैं तो द्विवेदीजी नहीं मानते 'कि कोरियों का ही मुसलमान संस्करण जुलाहा है'। कोरी और जुलाहा को वे अलग–अलग मानते हैं। अप्रत्यक्षत: वे कह रहे हैं कि कोरी हिन्दू है और जुलाहा मुसलमान। प्रत्यक्षत: यह कह रहे हैं कि 'कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था' मतलब 'गैर–मुसलमान जुलाहा समाज' कबीर को पृष्ठभूमि के तौर पर मिला था। यह 'गैर–मुसलमान जुलाहा समाज' कबीर के समय मुसलमान हो गया था, द्विवेदीजी को 'ऐसा जान पड़ता है'। द्विवेदीजी इस 'गैर मुसलमान जुलाहा समाज' को 'नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगियों' की जाति से जोड़ते हैं, ''कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचने को प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा–वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथ–मतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।'' (पृ. २१) द्विवेदीजी कबीर की धार्मिक पहचान को नाथपंथ से जोड़ने पर ज़ोर देते हैं। कबीर को वे मुसलमान होने की धार्मिक पहचान से बचाना चाहते हैं। द्विवेदीजी लिखते हैं, ''सबसे पहले लगने वाली बात यह है कि कबीरदास ने अपने को जुलाहा तो कई बार कहा है, पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपने को 'ना–हिन्दू ना–मुसलमान' कहते रहे।'' (वही, पृ. २१) द्विवेदीजी का निष्कर्ष है कि कबीर स्वयं को 'नाथ–मतावलंबी गृहस्थ योगी' मानते थे यद्यपि कबीर ने ऐसा कहीं कहा नहीं हैं। वे अपनी पहचान 'जुलाहा' के रूप में बताना चाहते हैं। धर्म और जाति से व्यक्ति की सामाजिक पहचान निर्धारित होती है। कबीर अपनी सामाजिक पहचान 'जुलाहा' के रूप में स्वीकार करते हैं। द्विवेदीजी 'जुलाहा' को गौण करके तीसरे धर्म से कबीर का नाता जोड़ने पर ज़ोर देते हैं। नाथ–पंथ से कबीर का संबंध जोड़ने की कोशिश (?) के बावजूद द्विवेदी जी धर्मांतरण की बात बीच–बीच में करते हैं। यह नया धर्म इस्लाम है तथा इन सद्य:धर्मांतरित जातियों के बारे में द्विवेदीजी का एक निष्कर्ष यह भी है, ''आसपास के बृहत्तर हिंदू–समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे।'' (वही, पृ. २४) इसी पुस्तक का सुप्रसिद्ध टुकड़ा कि कबीर 'जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय' (पृ. १३४) थे। द्विवेदीजी के 'अस्पृश्य' का अर्थ क्या होना चाहिए 'अस्पृश्य' का अर्थ 'अनुसूचित जाति' में जन्मा व्यक्ति यहाँ हो सकता है क्या? केवल हिन्दू धर्म में 'अस्पृश्यता' को सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया गया है। इस्लाम 'अस्पृश्यता' को सैद्धांतिक रूप में नहीं मानता, उसकी कोई भी जाति अस्पृश्य नहीं मानी जाती। आज 'आजीवक धर्म' की अवधारणा दी जा रही है तथा ज़ोर दिया जा रहा है कि दलित जातियाँ हिन्दू नहीं हैं। किंतु 'अस्पृश्यता' की अवधारणा हिन्दू धर्म में जिन जातियों से जोड़ी गयी थी, उन जातियों को हिंदू माना गया था। द्विवेदीजी कबीर की जाति के प्रश्न को उलझा देते हैं। वे कबीर को जन्मना जुलाहा नहीं मानते, केवल पालित मानते हैं। इस रहस्य का अनावरण किए बिना कि वे जन्मना किस जाति के थे, द्विवेदी जी कबीर के बारे में स्पष्ट लिखते हैं– 'जन्म से अस्पृश्य'। जब जन्म का ठीक–ठीक पता नहीं, तब उन्हें 'जन्म से अस्पृश्य' कैसे कहा जा सकता है। यदि उन्हें जुलाहा माना जाए, तो बात साफ है कि जुलाहा 'अस्पृश्य' या अनुसूचित जाति नहीं है, वह पिछड़ी जाति है। पिछड़ी जाति का विस्तार मुस्लिम समाज तक है। अनुसूचित जाति का विस्तार केवल हिन्दू समाज तक है। दलित–विमर्श का कोई भी लेखक–चिंतक मुसलमान

नहीं है। फिर वही प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि क्या कबीर की जाति की उपेक्षा कर उनकी सामाजिक भूमि को पहचाना जा सकता है? जब यह तथ्य है कि कबीर की जाति 'जुलाहा' थी और जुलाहा जाति का संबंध इस्लाम से है, तब कबीर को 'दलित', 'अस्पृश्य', 'अछूत' आदि शब्दों से मुक्त कर देना चाहिए। इन शब्दों का संबंध केवल अनुसूचित जातियों से है, और इन जातियों का संबंध इस्लाम से नहीं है। दलित समाज कबीर को अपना धर्मगुरु मानता है। यह दलित समाज का अपना निर्णय है। कबीर की कविता यदि उन्हें मुक्तिकामी लगती है, तो वह उनकी 'स्वानुभूति' का अधिकार है। अनेक गैर–दलित संतों–कवियों ने पीड़ित समाज को राह दिखाई है। यदि दलित–विमर्श गैर–दलितों को भी अपने लिए प्रेरणादायक मानता है तो यह अच्छी बात है। मगर, विधवा ब्राह्मणी का पुत्र बताकर कबीर को जैसे पहले हथियाने की कोशिश की गयी है, उसी तरह कबीर को दलित, अछूत और अस्पृश्य बताकर आज पुन: हथियाने की कोशिश की जा रही है। कबीर न तो ब्राह्मण थे और न ही दलित– वे जुलाहा थे– पिछड़ी जाति के मुसलमान। आज भी जुलाहा जाति पिछड़ी जाति के मुसलमान के रूप में अपनी सामाजिक पहचान रखती है। प्रो० पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, २००९) कबीर पर अद्यतन पुस्तक है। उन्होंने कबीर की जाति 'जुलाहा' को अनेक नए प्रमाणों से प्रमाणित किया है। उनका निष्कर्ष है, ''कबीर का 'मूल तत्त्ववाद' निर्धारित करने के चक्कर में पड़ने की बजाय, संवेदना पर ध्यान दें, उनकी कविता के सबद पढ़ें, उनकी बानी सुनें तो आप स्वयं सुन समझ सकते हैं कि जुलाहे के घर में जन्मे कबीर, नीरू–नीमा के मेधावी पुत्र कबीर अपनी खोज–यात्रा में शाक्त, नाथपंथी और सूफी साधनाओं से गुजरकर 'भगति नारदी' में मगन होने की व्यवस्था तक पहुँचे थे।'' (पृ० १७६)

कबीर की कविता में अनेक धर्म–साधनाओं या संप्रदायों की जो शब्दावलियाँ मिलती हैं, उसे प्रो० अग्रवाल 'बेचैन व्यक्ति की साहस भरी खोज की परिणति अर्थात् इंडिविजुअल, रेशनल च्वायस' (पृ० १७५) मानते हैं। इन बातों को वे कबीर के जन्म से अलग करके देखने का सुझाव देते हैं। इस पुस्तक के तीसरे अध्याय 'कासी बसै जुलाहा एक...' में अनेक पंक्तियाँ और प्रमाण है कि कबीर जन्म से जुलाहा थे। वे मुसलमान थे। उनके घर और समाज में मुस्लिम रीति–रिवाज़, त्यौहार आदि मनाए जाते थे। हालाँकि कबीर की व्यक्तिगत पसंद, मान्यता और रुचि इन सबसे भिन्न थी। कबीर के समकालीनों ने उन्हें जुलाहा ही कहा है। कबीर की मृत्यु के सौ साल बाद पंथ बना। इसके बाद उनके 'जन्म' और 'पालित' होने के अन्तर को मुद्दा बनाया गया। अनन्तदास ने अपनी 'परिचई' में कबीर को 'जुलाहा' और 'मुसलमान' बताया। कबीर के 'वैष्णव हो जाने पर' कुटुम्ब को अपने इस्लाम की चिंता हुई। 'कबीर के गुरुभाई पीपा' के अनुसार 'कबीर के पिता के घर में ईद–बकरीद मनती थी, गोवध होता था'। धन्ना भी कबीर को 'जोलाहरा' बताते हैं। अबुल फ़ज़ल के 'आईन–ए–अकबरी' में कबीर को 'मुवाहिद' (एकेश्वरवादी) बताया गया है। तुकाराम ने कबीर को मोमिन ('विणकर' या जुलाहा) बताया है। प्रो० पुरुषोत्तम अग्रवाल अनेक स्रोतों से प्रमाण देते हैं कि कबीर जुलाहा थे और उनका परिवार मुसलमान था। उन्होंने उन संदर्भों की समीक्षा की है कि किन–किन कारणों से कबीर की जाति के बारे में भ्रम पैदा किए गए। कबीर की आत्मस्वीकृतियों को तो द्विवेदीजी ने भी उद्धृत किया है कि कबीर अपना सामाजिक परिचय

'जुलाहा' बताते हैं। प्रो. अग्रवाल कबीर के लिए 'अछूत' या 'अस्पृश्य' या 'दलित' शब्द का प्रयोग नहीं करते। कबीर की कविता में भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जहाँ उन्होंने स्वयं को 'अछूत' या 'अस्पृश्य' कहा हो। कबीर के समकालीन तथा बाद के संतों–भक्तों ने भी कबीर को 'अछूत' या 'अस्पृश्य' नहीं कहा है। हिंदी आलोचना में कबीर के लिए यह शब्द सर्वाधिक प्रचलित हुआ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कारण, 'जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय'। डॉ० धर्मवीर ने तो बाकायदा कबीर को 'अछूत', 'अस्पृश्य', 'दलित' शब्द से जोड़ा और उन्हें दलित–विमर्श का एक प्रतीक बना दिया। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना कबीर को क्रांतिकारी सिद्ध करने के क्रम में यही ध्वनित करती रही कि कबीर दलित थे, अछूत थे। दलित–विमर्श के हस्तक्षेप के बाद कबीर के प्रति मार्क्सवादी आलोचना का क्रांतिकारी तेवर ठंडा पड़ गया। कबीर को दलित बताए जाने का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि आज कबीर दलित बताए गए हैं और इसके पहले विधवा ब्राह्मणी के पुत्र। आज एक बार फिर कबीर की जाति पर विचार करते हुए बताना जरूरी हो गया है कि कबीर जुलाहा थे– पिछड़ी जाति के मुसलमान। कबीर ने इस्लाम को अस्वीकार किया, हिंदू धर्म की आलोचना की– यह भिन्न बात है। मगर उनकी सामाजिक पहचान यही थी कि वे पिछड़ी जाति के थे। कबीर को पिछड़ी जाति का बताने के पीछे ऐसी कोई मंशा नहीं है कि कबीर की कविता का मूल्यांकन एकदम बदल दिया जाए। मगर इतना तो करना ही पड़ेगा कि कबीर को दलित मानकर जो आलोचनाएँ लिखी गयी हैं, उन्हें ख़ारिज करना पड़ेगा। कबीर की कविता यदि दलित–विमर्श के अनुकूल है तो अच्छी बात है, मगर उन्हें दलित मान लेने के कारण यदि यह अनुकूलता बनायी गयी है तो इसे संशोधित करने की ज़रूरत है। कबीर जिन मुद्दों को उठा रहे थे, उन मुद्दों को रैदास भी उठा रहे थे। ब्राह्मणवाद के खिलाफ, इस देश की बहुसंख्यक आबादी, सचेत होने का प्रयास करती रही है। इनमें पिछड़े भी थे, दलित भी थे। कबीर को दलित बताकर, पिछड़ों के योगदान को हड़पने की कोशिश की गयी है। पिछड़ी जातियों को दलित–वर्ग के साथ असावधानीपूर्वक घुला–मिला दिया गया है। इस घालमेल का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ाई के नायक दलित बताए जाने लगे, जबकि इस लड़ाई में पिछड़ी जातियों का भरपूर योगदान रहा है। कबीर पर लिखी गयी आलोचनाएँ बताती हैं कि कबीर की कविता के अनेक पक्ष में, जिनमें से एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है– जातिवाद का विरोध। 'जाति' को भूलकर या भूलने का भ्रम पैदाकर 'जातिवाद' के खिलाफ़ लड़ना मुश्किल है। जातिवाद के ख़िलाफ़ जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ी गयीं, वे वस्तुत: जातिवादी वर्चस्व को बदलने की लड़ाइयाँ बन गयीं। यही कारण है कि जातिवाद समाप्त नहीं हुआ, किंतु जातिवादी वर्चस्व में समय–समय पर बदलाव हुए। ब्राह्मण के वर्चस्व को तोड़कर क्षत्रिय या यादव या चमार का वर्चस्व कायम हुआ। 'जाति' और 'वर्ग' – दोनों को ध्यान में रखकर विचार करना होगा। आर्थिक या राजनैतिक आधार पर बने 'वर्ग' को सामाजिक आधार पर बनी 'जाति' के साथ विवेकपूर्वक विश्लेषित करना होगा। 'जाति' का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। हमारे समाज की मूल इकाई है– 'जाति'। 'जाति को 'वर्ग' में बदलकर विचार करना फिसलन भरी राह है। भक्त कवि अपनी जाति बताते हैं, धर्म या वर्ग नहीं। कबीर स्वयं को 'जुलाहा' कहते हैं और रैदास 'चमार'। उन्हें पता है कि इन शब्दों से मुंह चुराना ठीक नहीं। 'जाति' को भूलकर

इस समाज की बनावट को नहीं समझा जा सकता है। आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों के कारण जाति–समूहों को वर्गों में बाँटा गया है। इसलिए 'जाति' और 'वर्ग' को समान महत्त्व देकर ही 'जातिवाद' के ख़िलाफ़ कोई लड़ाई लड़ी जा सकती है। भक्तिकाल के जिन कवियों ने जातिवाद के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई, उनमें कबीर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने 'ब्राह्मणवाद' और 'ब्राह्मण' के विरुद्ध कविताएँ लिखीं। नामवरजी लिखते हैं, ''कबीर जैसे सन्त का विरोध सम्भवत: इसी सामन्ती–पुरोहिती दमन के चक्र से था,...'' (*दूसरी परंपरा की खोज*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९९४, पृ० ५७)। 'सामन्ती–पुरोहिती' मार्क्सवादी आलोचना की शब्दावली है। कबीर ने सामन्तों के विरुद्ध कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं कही है। वे किसी क्षत्रिय या राजपूत की आलोचना नहीं करते। उनकी चोट 'ब्राह्मण' और 'मुल्ला' पर है। कबीर जातियों की सामाजिक भूमिका की पहचान अपनी कविता में स्पष्ट रूप से रखते हैं। वे जानते हैं कि राजपूत या कायस्थ का यादव से लड़ने की बजाय 'पंडित' और उसके 'पंडितवाद' से लड़ना उचित है। कबीर की इस लड़ाई में एक ही प्रतिपक्ष है– पंडित या मुल्ला। मगर 'अमरदेसवा' में 'पंडित' के लिए भी जगह है, जो अपने 'पंडितवाद' को त्यागकर आया है। जातिवाद की लड़ाई जाति से शुरू करके जाति को भूलने तक लड़नी होगी– कबीर का यही रास्ता है। यह बहस यदि एक मत का रूप ले ले कि कबीर दलित नहीं थे, पिछड़ी जाति के थे। तब उनकी कविता से संभवत: कुछ नयी बातें छनकर आएँ। हिंदी साहित्य के निर्माण में पिछड़ी जातियों की भूमिका पर काम करने की जरूरत है। इनकी आबादी आधी आबादी से भी ज़्यादा है, किंतु हिंदी साहित्य के घनघोर जातिवादी वातावरण में सर्वाधिक संख्यावाली यह आबादी अपनी भागीदारी की पहचान नहीं करा पायी है।

•••

असंवाद का हिमबिंदु और आज का नाटक

*आशा रानी

हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में स्वातंत्र्योत्तर युग सर्वाधिक चर्चित एवं विवादास्पद रहा है। इसका मूल कारण यह है कि इस कालावधि में ही सही अर्थों में हिंदी नाटक नवीनता, अति–आधुनिकता, प्रयोगधर्मिता, रंगसापेक्षता और पश्चिमोन्मुखता जैसी कई नवीनतम प्रवृत्तियों की ओर तेजी से अग्रसर हुआ है। जिस तेजी से हमारा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश बदला है उसमें साहित्यकार का रचना संसार, सर्जनात्मकता और चिंतनबोध, सभी कुछ तेजी से परिवर्तित हुआ है। आज साहित्यकार समाज को बदलने, राजनीति को नया रूप देने, आर्थिक रूप से समृद्धि लाने का प्रयास करता है किन्तु समसामयिक परिवेश में जब उसने अपने को कुछ करने में असमर्थ पाया तो परस्पर विरोधी और जटिल स्थिति उत्पन्न हो गई और परिणामस्वरूप आज लेखकीय अभिव्यक्ति घुटन, कुंठा, संत्रास, विडम्बना, अंतर्विरोध आदि से जुड़ गई है। जीवन को नया मोड़ देने के उत्साह में लेखक के सामने असंगतियाँ और उलझनें ही अधिक आई हैं। उसका जीवन अनेक चुनौतियों से भर गया है। अपने नाटकों में वह अपने परिवेश और युगबोध के इन सभी रूपों को साहित्यिक संवेदना के स्तर पर अपने ढंग से अभिव्यक्त करता है। डॉ. रीता कुमार के मतानुसार, ''सामाजिक जीवन में अनेक नयी समस्याएं चुनौती का रूप लेकर सामने आयीं।...फलस्वरूप व्यक्ति अजीब विरोधाभासी मन:स्थितियों के संघर्षपूर्ण तनाव में जीने लगा है...मूल्य संक्रांति, निरर्थकता की पीड़ा और दो पीढ़ियों के संघर्ष से सामाजिक जीवन में आंतरिक टकराव कि स्थिति उत्पन्न हो गई है।''[१] इन स्थितियों के बीच लिखे गए और इन्हें अभिव्यक्ति देने वाले नाटकों ने सामाजिक हिमबिंदु बने विचारों से संवाद किया है। साथ ही उसने रचना में इन हिमबिंदुओं को संवाद और असंवाद के रचनात्मक उपयोग द्वारा अभिव्यक्त किया है। समकालीन हिन्दी नाटककार समसामयिक परिवेश और युगबोध की अभिव्यक्ति के लिए उत्कंठित और पर्याप्त सक्रिय है। परिस्थिति के त्वरित परिवर्तन से समकालीन हिन्दी नाटककारों ने इतिहास और पुराण के आदर्शों को नाटक का कथ्य ही नहीं बनाया अपितु एक सजग रचनाकार के रूप में सामान्य जन की पीड़ा, हताशा, निम्नवर्गीय और मध्यवर्गीय लोगों के शोषण, निराशा, व्यवस्था एवं सत्ता का विरोध और संघर्षपूर्ण विरोधात्मक चेतना को कथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

भूख, श्रम, पूंजी और यौन ही मुख्य रूप से आज विश्व भर की प्रमुख और सार्वभौमिक समस्या हो गई है। लगभग प्रत्येक देश के साहित्यकार हर युग में इससे लगातार जूझते रहे हैं। इन सार्वभौमिक समस्याओं के अतिरिक्त भी प्रत्येक देश की अपनी कुछ विशिष्ट समस्याएं होती

*सहायक प्राध्यापक, पी.जी.वी.डी.ए.वी.कॉलेज (सांध्य), दिल्ली वि.वि., नई दिल्ली

हैं। पिछले कुछ दशकों का सामाजिक परिवेश अपने आप में अनेक समस्याओं से उलझा हुआ है। समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति जितना वाह्य परिवेश से टूटता नजर आता है उतना ही उसका आंतरिक परिवेश भी उसे तोड़ रहा है। इसलिए वह समाज के सामने घुटने टेकने को मजबूर हो गया है। आंतरिक रूप से उसने अपनी आत्मा को लगभग खंडित ही कर दिया है। परिणामस्वरूप उसमें बुरी तरह से टूटन आई है। संत्रास, विसंगतियों और विद्रूपताओं के कई रूप उसके व्यक्तित्व में परिलक्षित होने लगे हैं। वर्तमान आर्थिक परिवेश में वह और भी रोने–चीखने की स्थिति में आ गया है। बढ़ती हुई महंगाई में उसे अपना भविष्य भयंकर नजर आ रहा है। बदली हुई अवधारणाओं ने मानव जीवन को बहुत जटिल बना दिया है। डॉ. मान्धाता ओझा लिखते हैं : ''हमारा वर्तमान समाज और यथार्थ एक भयंकर दृश्य प्रस्तुत कर रहा है। यहाँ मनुष्य एक साथ तीन युगों में जी रहा है– मध्य युग, आधुनिक युग और भविष्य युग। हमारा गहन और तीव्र संबंध मानुष के इसी आधुनिक युग यानि उसके वर्तमान से ही है, जहाँ वह अपने नामों से नहीं वरन उपनामों से जाना जाता है।''[२]

सबसे बड़ा बदलाव नारी की तत्कालीन स्थिति में हुआ है। अब वह घर से बाहर निकलकर अपनी जिंदगी जीने के लिए स्वतंत्र हो गयी है। फलत: स्त्री–पुरुष के बीच का यह शारीरिक और मानसिक संबंध जो स्थूल और सूक्ष्म प्रेम एवं समर्पण पर आधारित था– रिश्ते का वह नाजुक तंतु आधुनिकता के एक ही झोंके से टूट गया, जिसके मूल में स्त्री–पुरुष संबंधा की मूल्यहीनता एवं नारी स्वातंत्र्य जैसे विचार और पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का आरोपित प्रभाव था। बदलते मूल्यों और परिस्थितियों की दौड़ में नर–नारी की परस्पर संबंधहीनता, अनासक्ति, पर–पुरुष, पर–स्त्री प्रेम और उपभोग तथा उससे उपजे तनाव, विषाद एवं काम–कुंठा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास है। आधुनिक युग में जैसे–जैसे स्त्री–पुरुष में तार्किकता, बौद्धिकता एवं समझदारी आती जा रही है, वैसे–वैसे यह संबंध अपनी नैसर्गिकता और पवित्रता को खोता जा रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद जी इन्हीं परिस्थितियों के बारे में लिखते हैं : ''कहने को तो घर या परिवार समाज की इकाई है, उसी का अविछिन्न हिस्सा, पर यह हिस्सा आज मुख्य अंग का एक समन्वित भाग न होकर धारा के बीच का द्वीप बन गया है।''[३] असंवाद की इन स्थितियों से बनते–बिगड़ते संबंधों की पड़ताल अधोवर्णित नाटकों के विश्लेषण में देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें संबंधों की रिक्तता और कड़वाहट को वर्तमान समाज के बदलाव के संदर्भ में परखना चाहिए।

लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, सुशील कुमार सिंह, मणि मधुकर ऐसे नाटककार है जिन्होंने स्त्री–पुरुष के दैहिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण में अत्यधिक रुचि ली है। कुसुम कुमार, विष्णु प्रभाकर, नंदकिशोर आचार्य, प्रभाकर श्रोत्रिय, मृणाल पाण्डेय, सारंग भृगु, रामेश्वर प्रेम, शंकर शेष, भीष्म साहनी, नाग बोडस, त्रिपुरारि शर्मा ने अपने नाटकों में नारी चेतना को विशेष दृष्टि प्रदान की है।

पारिवारिक जीवन की विडंबनाओं, नयी युवा पीढ़ी की क्रांतियों, आधुनिक युवा–युवतियों की मनोवृत्तियों को आधार बनाकर लिखने वालों में रमेश बक्षी का एक विशिष्ट स्थान है। उनका

''देवयानी का कहना है'' नाटक एक परम्परावादी नारी के विपरीत अत्याधुनिक नारी का बिम्ब उभारता है और इस नयी चेतना ने विवाह संस्था की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। भौतिकतावादी मानसिकता का घेरा हमारे चहुँ ओर इस तरह से जकड़ा हुआ है कि हम उससे पार नहीं पा पाते क्योंकि औरों से लड़ना बेहद आसान है, अपनों से, अपने आपसे लड़ना बेहद मुश्किल है, जीतना तो और भी मुश्किल। लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'मिस्टर अभिमन्यु' आधुनिक व्यक्ति की भीतरी और बाहरी संघर्ष पीड़ा को व्यक्त करता है जो उसकी नियति बन गई है। लाल जी का 'कर्फ्यू' दंगों की पृष्ठभूमि में सामाजिक एवं नैतिक बंधनों में फंसे मनुष्य के भावात्मक द्वंद्व को संकेतिक करता हुआ यह प्रश्न उठाता है कि व्यक्ति आजादी के नाम पर अपने आप को कर्फ्यू लगाए रखने के लिए क्यों विवश है? अपने लिए स्वतंत्र जीवन मूल्य क्यों नहीं तलाश कर पाता? जबकि समय सबसे बड़ा सत्य है। वस्तुत: नाटक परम्परागत सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध युगबोध का प्रतिफलन है जो यह सिद्ध करना चाहता है कि आरोपित प्रतिबन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुंठित और खंडित कर देते हैं। नाटक 'स्व' के बाधा–रहित विस्तार के लिए प्रचलित मान्य आदर्शों की प्रतिक्रिया की उन्मुक्त भोगवादी बाधा की प्रस्तावना है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के नवीन मूल्य ने उसकी समस्त पुरातन धारणाओं को नष्ट कर दिया है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा का नाटक 'रोशनी एक नदी है' ठहराव और गतिरोध की यथास्थिति को नए रंगों में प्रस्तुत करता है। यह सामयिक संवेदना की दृष्टि में नई श्रेणी का नाटक है। आज हम सब सिर्फ भीड़ बनकर रह गए हैं और भीड़ में कुचले जा रहे हैं। कोई ज्योतिवाहक नहीं है। पति–पत्नी संबंध भी केवल दिखावे के हैं क्योंकि जीवन में घोर निराशा के अतिरिक्त कुछ बचा ही नहीं है। आधुनिक युवक किस प्रकार अपनी संस्कृति को हेय, त्याज्य और गली हुई रस्सी मानता है। आज युवा आधुनिक होने का अर्थ केवल शारीरिक स्तर पर ले रहा है बुद्धि या मन के स्तर पर नहीं। युवकों की इस दिशाहीनता, निरंकुशता और स्वछंदतावादी प्रवृत्ति का उद्‌घाटन दयाप्रकाश सिन्हा के 'ओह अमेरिका' में भलीभांति मिलता है। आज पूर्व पीढ़ी और उत्तर पीढ़ी का आपसी सेतु कैसे ध्वस्त हो गया, उसमें असंवाद का हिमबिंदु कहाँ से उपस्थित हो गया है? अजनबी द्वीपों में बहिष्कृत होने पर उनके पीछे नौकाओं को किसने भस्म कर डाला है? इन सबका चित्रण विष्णु प्रभाकर के नाटक 'टूटते परिवेश' में देखा जा सकता है। वर्जनशीलता, उपदेश, नीति, धर्म, शिष्टाचार, मर्यादा सभी पर प्रश्नचिह्न लगाती हुई संतान जब स्वछंद यौनाचार, दिशाहीन फैशन एवं अराजक उश्रृंखलता पर उतर आती है तब पिता कैसा महसूस करता है, यही सब 'टूटते परिवेश' में चित्रित है। पिता विश्वजीत इस बदलाव को महसूस करता है : ''कैसा वक्त आ गया है। एक वह जमाना था, कितना प्यार, कितना मेल। एक कमाता दस खाते।... अब सब एक दूसरे से भागते हैं।''[४]

आज की सामाजिक व्यवस्था का नियामक आम आदमी का शोषण ही नहीं करता वरन वह संसार की प्रत्येक वस्तु पर भी अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। आम आदमी की संपत्ति पर ही नहीं, उसकी स्त्री पर भी गिद्ध दृष्टि है। किसी व्यक्ति की वस्तु को हड़प कर वह उसे दण्डित भी कर सकता है। सत्ता और व्यवस्था की यह दुमुहीं नीति 'सिंहासन खाली है',

'बकरी', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'तेंदुआ' आदि नाटकों में स्पष्ट दिखाई देती है। राजनेताओं द्वारा अपनाए गए हथकण्डों, राजनीति कुचक्रों, थोथे नारों और झूठे आश्वासनों का पर्दाफाश इन नाटकों में सफलता से हुआ है।

मोहन राकेश अपने नाटक 'पैर तले की जमीन' में विवाहपूर्व आधुनिकाओं के सम्भावित संबंधों के लिए पूर्ण पुरुष और पूर्ण नारी की तलाश की अंतहीन पिपासा का जिक्र उठाते हैं और आज अधिकांश व्यक्ति इसी की तलाश में भटक रहे हैं। राकेश के 'लहरों के राजहंस' में मध्यवर्गीय स्त्री–पुरुष के द्वंद्व और तनाव को रेखांकित करता है और बदलते मानदंडों को भी स्पष्ट करता है। नंद और सुंदरी परस्पर आलिंगनबद्ध होकर एक भयंकर विस्फोट के साथ इतने दूर जा गिरते हैं कि उनका मिलन असंभव हो जाता है। उनके जीवन के विघटन का मूल कारण विचार वैषम्य में निहित है। आज ज्यादातर परिवारों के टूटने का यही कारण है। जयदेव तनेजा के अनुसार : ''द्वन्द और तनाव में निरंतर एक दूसरे से टकराते हुए जीते जाने कि प्रक्रिया ही आधुनिक स्त्री–पुरुष संबंधों कि वास्तविकता है।''[५] हमीदुल्ला का 'दरिंदे' नाटक सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन पर सवाल उठाता है। राजसत्ता ने जो सरकारीकरण किया है उसने विकलांगता को जन्म दिया है। सरकार आर्थिक विकास, हरित क्रांति की बात करती है किन्तु सब कुछ सरकारी आँकड़ों में हो रहा है, दफ्तर फाइलों के जंगल मात्र हो गए हैं, कुर्सियों पर उल्लू, गिरगिट, चमगादड़, शुतुरमुर्ग और गधे बैठे हैं। मानव ने यंत्रों के माध्यम से अपने को यांत्रिक बना लिया है और संवेदनशून्य हो गया है। बेहिसाब फैलती महत्वाकांक्षाएं, इस्तेमाल करने की घृणित दुष्प्रवृत्ति, सुविधाभोग, अवसरवादिता, मूल्यहीनता तथा दरिंदगी ने एक भयभीत, विक्षिप्त करने वाले वातावरण को जन्म दिया है। नाटककार इसी अमानवीकरण की त्रासदी को उद्‌घाटित करता है। लाल कृत 'व्यक्तिगत' की पत्नी 'वह' उसके स्वरूप का यथार्थ विश्लेषण करती है : ''मैं देख रही हूँ, एक सम्पूर्ण आईना था, जो टूटकर असंख्य टुकड़ों में बिखर गया है, अब उसका हर टुकड़े में वही 'मैं' दिखता है और अपने आप को संपूर्ण कहता है... मैं धर्मपत्नी, वाइफ, पार्टनर, नौकर, माँ, इंटलेक्चुअल, खिलौना, वाइफ ऑफ पोलीगेम्स ।''[६]

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने यह बताने की कोशिश की है की राजनीति और नौकरशाही आज के व्यक्ति के निजी संबंधों तक किस हद तक घुस गयी है और आधुनिक समाज में व्याप्त असंगत धारणाओं पर कुठाराघात किया है। आत्महनन कि पीड़ा को सहती हुई शीलवती कहती है : ''मैंने इस जीवन को जिस रूप में अपना लिया था, और कभी नहीं सोचा था कि ऐसी कोई बात हो सकती है। वर्ष पर वर्ष. .. ऋतुएँ पर ऋतुएँ... देखो, आज कि रात हम दोनों एक ही संग्राम के योद्धा हैं... बस हमारा क्षेत्र अलग है, चुनौती अलग है।''[७] और आधुनिक शीलवती नितांत भौतिकतावादी दृष्टिकोण अपनाती है। इसी दौर में स्वतंत्र लेखकीय अभिव्यक्ति को आधार बनाकर 'आठवां सर्ग' नाटक को सुरेन्द्र वर्मा ने लिखा जिसमें शासन, सत्ता और राजाश्रय की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के बीच लेखकीय अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और शासन की टकराहट स्पष्ट दिखाई देती है। शासन के समक्ष कालिदास की एक साहित्यकार के रूप में पराजय या एक रचनाकार की 'रचनात्मकता' की छाया

पर पहले नाटक समाप्त हुआ परन्तु, बाद में उन्होंने कालिदास की साहित्यिक रचना की उत्कृष्टता दिखाते हुए उसकी इतनी व्यापक जनस्वीकृति दिखाई है कि कालिदास की रचना अपने रचनामूल्यों में अत्यंत विराट सिद्ध हुई। बदलते हुए भारतीय परिवेश में रचनाकारों को अकसर इस समस्या से जूझना पड़ता है जिसका उल्लेख नाटककार ने बखूबी किया है। यूँ तो स्त्री–पुरुष संबंधों का चित्रण बदलते हुए इस परिप्रेक्ष्य में साहित्यकारों का आधार रहा है किन्तु जब लेखिकाओं ने इन संबंधों पर अलग–अलग पक्षों, स्तरों का चित्रण किया तो नारी–दृष्टि की निजी विशेषताएं भी सामने आईं। मृदुला गर्ग का 'एक और अजनबी' स्त्री–पुरुष संबंधों के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों को लेकर चलता है और उसमें अभिव्यक्तिगत ताजगी और अनुभव अलग ही रंग लिए है। उच्चतर जीवन की लालसा एवं अर्थ के मोह ने पति–पत्नी के संबंधों को एक नया मोड़ दिया है। वे लिखती हैं : ''जीवन को संस्कार–व्यापार का कर्मकांड बनाकर क्या मिलता है; सिवा निरर्थक ऊब के? हमसे ज्यादा किसने सहा है इसे?''[८] दाम्पत्य जीवन के संदर्भ में मूल्यच्युत पुरुष का अपनी पत्नी के लिए अजनबी एवं पराया हो जाने की दु:खद अनुभूति को प्राथमिकता के साथ चित्रित करता है। दो पुरुषों के बीच विभाजित स्त्री स्थिति क्या होगी इसी त्रासदी को पेश करता है यह उपन्यास।

आर्थिक वैषम्य ही आधुनिक मध्यवर्गीय चेतना की प्रकृति निर्मित करता है। उच्चवर्ग में सम्मिलित होने की तीव्राकांक्षा एवं नारी की घर–गृहस्थी के कार्यों के प्रति बढ़ती जा रही उदासीनता ने मध्यवर्गीय परिवारों को अर्थव्यवस्था के एक जटिल संघर्षपूर्ण मोड़ पर ला कर खड़ा किया है। निरंतर बढ़ती जा रही महंगाई नौकरी पेशा व्यक्तियों के लिए द्रोपदी का चीर हो गई है। समाज में नैतिक और आर्थिक भ्रष्टाचार को दिनोंदिन प्रोत्साहन मिला है। यह प्रवृत्ति निजी व्यवसाय करने वालों में ही नहीं बढ़ी बल्कि सरकारी कर्मचारी भी समाज की इस घातक प्रवृत्ति से इच्छित लाभ उठाने की लगातार कोशिश में रहते हैं। अर्थ की अक्षमताओं ने मध्यवर्गीय नारी से पता नहीं कितने अपमानजनक और घृणित कार्य करवाएं हैं। अर्थाभाव की तप्त भट्टी निम्न मध्यवर्गीय युवतियों के अहं को राख का ढेर कर देती है। प्रेम किसी से और विवाह किसी से। वहाँ कोई पाप नहीं दीखता, पुरुषार्थ के बदले नपुंसकत्व का परिचय मिलता है। आत्मसम्मान आज अर्थ के सामने लंगड़ा हो गया है। नारी शिक्षा के संदर्भ में समाज में स्त्रियों की कम होती संख्या, जिसका मुख्य कारण पुत्र व पुत्री की विभेदक रेखा में अंतर किया जाना रहा है। भ्रूण हत्या और कन्याओं के लिंग परिवर्तन की समस्या व नारी की उपेक्षित स्थिति की विडंबना ने प्रभाकर श्रोत्रिय को 'इला' जैसा नाटक लिखने के लिए विवश किया। पूरे तन्त्र की विभीषिकाओं को व्यंजित करने में नाटक अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। इसमें निहित युगीन समस्याओं और प्रश्नों को चिह्नित करते स्थल पाठक को क्षण भर रुक कर सोचने को बाध्य कर देते हैं। यही इस नाटक की विशेषता है।

भीष्म साहनी कृत 'माधवी' भारतीय समाज व्यवस्था में नारी की दारुण स्थिति पर प्रकाश डालता है, जिसके बारे में डॉ. रमेश गौतम लिखते हैं...''नारी के सामने सीता और सावित्री का आदर्श रखकर हमेशा से पुरुष वर्ग द्वारा उसे छला गया है। भारतीय समाज व्यवस्था में नारी की विडंबनापूर्ण क्रूर नियति को ट्रैजिक संवेदना के साथ भीष्म साहनी ने महाभारत के पुराख्यान द्वारा अनावृत्त किया है।''[९]

मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय जीवन को अपनी रचनाओं के लिए चुना और उनकी दृष्टि नारी–पुरुष संबंधों की व्याख्या में है। वह अपने समकालीनों के बीच नयी पहचान बनाते हैं। नाटकों में अपेक्षित स्थितियों के अभाव तथा अनपेक्षित स्थितियों की उपस्थिति के टकराव एवं उस संघर्ष में जूझते हुए व्यक्ति के खंड–खंड होते हुए व्यक्तित्व को अनेक स्तरों पर अभिव्यक्ति मिली है। नाटककार स्पष्ट करता है कि जब व्यक्ति आवश्यकता से अधिक महत्त्वाकांक्षी हो जाता है तो वह स्वयं के अधूरेपन को भरने के लिए इधर–उधर भागता है लेकिन कहीं भी पूर्णता नहीं पाता। यह बदलते परिवेश का ही प्रभाव है कि युगों से पति के साथ जीवन पर्यन्त निर्वाह करने वाली स्त्री इस काल में यह दृष्टिकोण रखने लगी है कि : ''क्या पर–पुरुष पति नहीं बन सकता और पति पर–पुरुष नहीं बन सकता।'' बौद्धिक चेतना ने उसके जीवन में उथल–पुथल मचा कर रख दी है। संघर्ष और चुनौती कि यह मुद्रा जिसमें नारी की विद्रोहाभिव्यक्ति की विशेषताएं कथा का आधार बनी हैं। इन नाटकों में नारी की आकांक्षाओं और उमंगों को एक नई दिशा मिली। समसामयिक परिवेश में कदाचित सबसे पहले नारी में विचारों और मानसिक सोच कि उन्मुक्तता में अचानक भारी बदलाव आया है। नवें दशक में ऐसे नाटकों की रचना भी बहुत हुई जिस में युवा पीढ़ी में व्याप्त हो रही दिशाहीनता, मानसिक विघटन, चारित्रिक पतन और कुंठित आचरण परिलक्षित होता है। इस तरह के संस्कार, भौतिक सुखों की कल्पना, अर्थ संग्रह की प्रबल इच्छा ने मध्यवर्गीय दम्पतियों के जीवन में जो स्वार्थपरता, आत्मकेंद्रिता और अलगाव की स्थितियों को उत्पन्न किया है, उनका असर उनकी होने वाली संतानों पर पड़ रहा है। रामेश्वर प्रेम का नाटक 'शस्त्र संतान' महाभारत की युद्ध व्यथा न होकर एक ऐसी रचना है जिसमें उठाये गए प्रश्न और गढ़े गए संवाद मानवीय जीवन के गहराते संकट का उत्तर बन गए हैं। सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों तथा मानव जीवन की विविध द्वंद्वात्मक मन:स्थितियों को दूधनाथ सिंह ने 'यमगाथा' में उजागर करने का सार्थक प्रयास किया है। 'भूख आग है' नाटक में कृष्ण बलदेव वैद समकालीन सामाजिक, आर्थिक गैरबराबरी और संपन्न लोगों का वंचितों और असहायों के प्रति असंवेदनशील और अमानवीय रुख कितना घृणित रूप ले चुका है, इसका चित्रण करते हैं। भौतिक सुख समृद्धि के वाबजूद आज के पति–पत्नी एक दूसरे पर विश्वास करना भूल चुके हैं, एक लाचारी के तहत जीवन खींच रहें हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा का 'कुंती का परिताप' भी उसकी पीड़ा व संवेदना के क्षणों को पूर्ण वास्तविकता के साथ उभारता है। सम्पूर्ण व्यवस्था में जिस आमूल रूप से परिवर्तन हुआ उसने हमारे संबंधों को बहुत प्रभावित किया है। राजनीति, शिक्षा, समाज एवं परिवार इन सभी क्षेत्रों में जिस तीव्रता से परिवर्तन हो रहे हैं, उसका सीधा प्रभाव व्यक्ति की चेतना और चरित्र पर पड़ा है। आज उत्तरोतर जीवन की बढ़ती अपेक्षाओं, अधिकार भावना, व्यक्ति स्वातंत्र्य ने सभी को तनाव, कुंठा व पीड़ा को झेलने के लिए विवश कर दिया है; जिससे संबंधों में अलगाव, अजनबीयत और असंवाद की स्थितियां पैदा हो गई हैं। बदलती आस्थाओं के साथ संवेदना में भी परिवर्तन साकार हुआ है। आज हम जिसको उद्देश्य बना कर चलते हैं वह आने वाले कल में आरम्भ का बिंदु बनकर रह जाता है। परिवेश के काल्पनिक आतंक से ग्रस्त होकर अनास्था, परम्परा की अस्वीकृति, सामाजिक दायित्व से इंकार, घृणित व वीभत्स सामाजिक विसंगतियों

पर दृष्टिपात, निराशा, घुटन आदि को नियंत्रित रूप में अभिव्यक्त करना इन नाटकों की विशेषता रही है। अत: नयी–नयी उपलब्धियों के प्रसंग में संवेदना में भी परिवर्तन की गति में तेजी आ रही है। संबंधों में घिर आई ये संवादहीनता समाज के विघटन का संकेत देती है जिसके प्रति सोचने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ :

१. डॉ. रीता कुमार, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, पृ. १९–२०
२. डॉ. मान्धाता ओझा, हिन्दी के समस्या नाटक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण १९६८, पृ. ३६ से उद्धृत
३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ. ४८८
४. विष्णु प्रभाकर, टूटते परिवेश, पृ. ३१
५. जयदेव तनेजा, लहरों के राजहंस : विविध आयाम,पृ. ८१
६. लक्ष्मीनारायण लाल, व्यक्तिगत, पृ.५७
७. सुरेन्द्र वर्मा, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण १९९०, पृ. २६
८. मृदुला गर्ग, एक और अजनबी, अपनी बात, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण १९८७, पृ. २
९. डॉ. रमेश गौतम, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९७, पृ. ५६७

•••

आलोचना:

रामचंद्र शुक्ल के भीतरी एकालाप और बाहरी संवाद का आलोचक मलयज

***तरुण गुप्ता**

किसी लेखक–आलोचक को समझने के लिए उसके परिवेश का अध्ययन, मलयज व उनकी आलोचना के लिए आधार बिंदु का काम करता है। उनकी दृष्टि रचना और रचनाकार को उसके परिवेश को अपनाए बिना आगे नहीं बढ़ती, बल्कि रचना या रचनाकार के अध्ययन के दौरान उसका परिवेश उसकी प्रकृति मलयज के लिए एक जरूरी आधार बिंदु बनती है। रामचंद्र शुक्ल के साहित्य चिंतन का अध्ययन करने के दौरान भी मलयज ने अपनी समीक्षा के इस जरूरी औजार को याद रखा। इसे जानने के लिए हमें मलयज के उन तमाम अनुभवों से गुजरना होगा जो उन्होंने *रस–मीमांसा* और शुक्ल जी के बाकी साहित्य चिंतन को पढ़ते हुए महसूस किया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में मलयज रामचंद्र शुक्ल पर साहित्य अकादमी के लिए मोनोग्राफ लिख रहे थे। अपनी मृत्यु से पूर्व वे इसके दो अध्याय (पृष्ठभूमि, जीवनवृत्त) लिख चुके थे। इन दो अध्यायों के अतिरिक्त छुट–पुट पाद–टिप्पणियाँ और एक लेख 'मिथ में बदलता आदमी' भी वे शुक्ल जी पर लिख चुके थे। शुक्ल जी पर की गई टिप्पणियाँ तक एक सुगठित आलोचना और सुक्त वाक्यों का समूह मालूम होती हैं। शुक्ल जी को समझने के लिए उनके परिवेश को समझना मलयज के आलोचक व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण गुण है। आप गौर करें, शुक्ल जी पर लिखने और उन्हें समझने के लिए वे जिन दो पुस्तकों को आधार बनाते हैं, वे हैं, शुक्ल जी के भतीजे चंद्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखी उनकी जीवनी 'रामचंद्र शुक्ल' और दूसरी पुस्तक स्वयं शुक्ल जी द्वारा लिखी 'रस मीमांसा'।

मोनोग्राफ का द्वितीय अध्याय 'जीवनवृत' मलयज के विवेक और चंद्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित शुक्ल जी की जीवनी के सौजन्य से संभव हो पाया। जबकि मलयज की शुक्ल जी पर लिखी अधिकतर टिप्पणियों का आधार शुक्ल जी की पुस्तक 'रस मीमांसा' बनी जिसके आधार पर मलयज ने निष्कर्ष निकाला कि ''शुक्ल जी ने अधिकांश कवियों की काव्य–समीक्षा–मीमांसा, तुलसी, सूर और जायसी आदि की मीमांसा भी एक सहृदय आलोचक की तरह की है। एक कवि हृदय व्यक्ति की तरह नहीं। यदि वे ऐसा करते तो दो बातें हो सकती थीं; एक, वे आलोचना ही नहीं लिख पाते। दो, वे उन निष्कर्षों पर न पहुँचते जिन तक वे पहुँचे हैं। काव्य विवेचन की प्रक्रिया ही दूसरी होती।''[१] मलयज के लिए शुक्ल जी की रचनाओं का अध्ययन स्वयं उनके परिवेश का अध्ययन था। मलयज शुक्ल जी को समझने के लिए उनके परिवेश को समझने का प्रयास करते हैं। यह परिवेश स्वयं उनका परिवेश भी है। शुक्ल जी को समझने के लिए वे टौंस नदी के अनुभव से गुजरते हुए आजमगढ़ के धूल में लस्त–पस्त पिछड़ेपन के समाजशास्त्र को

*

समझने का प्रयास करते हैं। यहाँ खड़े–खड़े उन्हें शुक्ल जी की 'रस मीमांसा' की पंक्तियाँ याद आती हैं : ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।''[2] इसी परिवेश में रमकर शुक्ल जी 'हृदय का मधुभार' लिखते हैं तथा समकालीन संदर्भों में काव्य में रहस्यवादिता का विरोध करते हैं। शुक्ल जी पर लिखते हुए मलयज उनका रचनात्मक मूल्यांकन करने से पहले उनकी रचनात्मक और आलोचनात्मक विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए उनके जीवन व इससे जुड़ी स्मृतियों को समझने का प्रयास करते हैं। वस्तुत: मलयज का आलोच्य व्यक्तित्व कहीं न कहीं बार–बार रचनात्मक हो जाया करता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे शुक्ल जी और हजारीप्रसाद द्विवेदी हमें अपनी आलोचनाओं में अपने निबंधकार रूप के दर्शन कराते रहते हैं। हम यहाँ जोड़ना चाहेंगे कि शुक्ल जी व साथ ही द्विवेदी जी भी मूलत: निबंधकार थे और शुक्ल जी ने तो जिस प्रकार अपने निबंधों में पहले सुक्तियां या सुक्त वाक्य गढ़े और बाद में उनका विश्लेषण किया ठीक वैसे ही उसी निगमन शैली का प्रयोग मलयज अपने समीक्षा लेखों व डायरी में करते हैं। चिंतामणि (भाग–एक) में संकलित निबंध 'भाव और मनोविकार' याद कीजिये : ''अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है।''[3] यह इस निबंध की शुरुआती पंक्तियां हैं और एक लिहाज से देखें तो ये सिर्फ पंक्तियां मात्र नहीं हैं बल्कि सुक्त वाक्य हैं। शुक्ल जी का निबंध इन पंक्तियों को ही डिफेंड करता चलता है और यह सिर्फ अकेले 'भाव और मनोविकार' की बात नहीं है बल्कि इसी पुस्तक में संकलित अन्य निबंधों (श्रद्धा–भक्ति, उत्साह आदि) पर भी यह बात लागू होती है। 'भाव और मनोविकार' में जहाँ शुक्ल जी अनुभूति व इसके द्वंद्व का मनोविज्ञान के भारतीय धरातल पर विश्लेषण करते है वहीं 'श्रद्धा–भक्ति' में निगमन शैली का, जोकि खासकर निबंध के लिए अर्थवान है। (हालांकि प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में भी परोक्षत: दिख जाती है) और मलयज के समीक्षा–लेखों में तो अहसास होता है कि शुक्ल जी का गहरा प्रभाव उनकी समीक्षा पर था। जब मलयज निर्मल वर्मा की पुस्तक 'बीच बहस में' की समीक्षा करते हैं तब भी इस आधार को लेकर चलते हैं। उनके लिए लेखक की रचना से अधिक रचना के उपजीव्य का अध्ययन प्राथमिक होता है यानि मलयज रचना से पहले रचनाकार के जीवन के विश्लेषण को अपनी समीक्षा का आधार बनाते हैं। उनके लिए रचना में उपस्थित संवाद के साथ वह एकालाप भी महत्वपूर्ण है जिसने रचनाकार को उसके एकालाप को संवाद रूप में परिणत कराने में मदद की। इन मायनों में कहें तो मलयज भीतर के एकालाप और बाहर के संवाद को रचना के साथ साथ आलोचना में संभव बनाते दीखते हैं। उनके लिए यह भीतर और बाहर ही रचना की उत्पत्ति का मुख्य कारण हैं।

शुक्ल जी और मलयज में कई समानताए हैं परिवेश के स्तर पर, स्वास्थ्य के स्तर पर, और समकालीन समझ के स्तर पर। इनमें परिवेश और स्वास्थ्य शुक्ल जी की तरह मलयज को भी विरासत में ही मिले। अपने समय के सभी नामचीन कवियों पर लिख शुक्ल जी की तरह मलयज भी हिंदी साहित्य के समाजशास्त्र की समकालीन समझ को विकसित करने का प्रयास करते हैं। शुक्ल जी 'रस मीमांसा' में घोषणा करते हैं : ''सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन

के भीतर की वस्तु है।''[4] मलयज के लिए भी सौंदर्य कोई आसमानी या कल्पनात्मक बोध न होकर अधिक जमीनी और यथार्थपरक है लेकिन वे कोरे यथार्थवादी नहीं हैं! मलयज की दृष्टि यथार्थ की तर्ज पर भाव को पकड़ती है। उनके लिए रचना का मूल्यांकन रचनाकार के परिवेश को जाने बिना और समकालीन संदर्भों का सहारा लिए बिना संभव नहीं है। निश्चित ही यह भाववादी दृष्टिकोण शुक्ल जी से उन्हें मिला है। शुक्ल जी भी मूलत: भाववादी होने पर भी ज्ञान या बौद्धिकता की तर्ज पर अपने समय की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं। जनजीवन एवं परिवेश से ऐंद्रिक जुड़ाव रखने पर भी अपने भीतर बौद्धिक सजगता बनाए रखना मलयज के कृतित्व का एक अनिवार्य गुण है। यह गुण शुक्ल जी की रचनाओं और 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में हमें देखने को मिलता है। रीतिकाल में केशव, देव आदि की तुलना में घनानंद जैसे कवि को वे अपनी सराहना का मूल्य देते हैं चूंकि वे घनानंद को अपने समय के अधिक करीब पाते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में वे घनानंद के संबंध में कहते हैं : ''लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिंदी कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानंद ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्यधारा (छायावाद) में ही, 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई।''[5]

जिस प्रकार शुक्ल जी ने घनानंद को अपने समय के अधिक करीब पाया था और न सिर्फ अपनी प्रशंसा का मूल्य ही इस कवि को दिया था बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों मे उनके समकालीनों से उनका तुलनात्मक विश्लेषण भी किया था एवं उपरोक्त निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उसी प्रकार मलयज शुक्ल जी के संबंध में लिखे अपने एक महत्वपूर्ण लेख 'मिथ में बदलता आदमी' में शुक्ल जी की पश्चिम को देखने की दृष्टि के संबंध में एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष तक पहुंचते हैं : ''शुक्ल जी के कई रूप हैं। एक रूप वह जिसने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखा और गोया हमें वह झरोखा दिया जिसमें बैठकर न सिर्फ साहित्य के इतिवृत्त का बल्कि उसे संभव बनाने वाले हवा–पानी–मिट्टी का भी जायजा लिया जा सके। एक रूप वह जिसने छायावाद से लोहा लिया। एक वह जो 'हृदय का मधुभार' हल्का करने के लिए स्मृतिजीवी कवि बना। एक वह जिसने हिंदी की विचार–शक्ति को देसी साँचे में ढालकर समालोचना के नए औजार गढ़े। एक ओर जिसने पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व में अपनी जमीन का विवेक नहीं खोया और उससे बड़ी बात यह कि अपनी भाव संवेदना के कपाट सदा खुले रखे।''[6]

मलयज शुक्ल जी के पूर्व और पश्चिमी के द्वन्द्व में अपना जमीनी विवेक न खोते हुए भी अपनी भाव संवेदना सदैव जागृत रखने वाले रूप से संभवत: सर्वाधिक प्रभावित थे। अपने इसी जमीनी विवेक को आधार बना वे 'ब्रदर्स करमाजोव', 'इवान', 'ज्यां क्रिस्तोफ' और 'द मेकिंग ऑफ ए पोएम' का पाठ भारतीय साहित्य और समाज की जमीन पर करते हैं। स्पेंडर की 'द मेकिंग ऑफ ए पोएम' को पढ़ते हुए वे इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारतीय संस्करणनुमा टिप्पणियां करते चलते हैं। ''कविता पढ़ो तो एक कवि की हैसियत से नहीं, एक साधारण पाठक

की तरह यानी न आलोचक की तरह न कवि की तरह। कविता लिखो, लेकिन कवि की तरह नहीं। कविता बस आदमी की भाषा में हो और कुछ नहीं। इससे ज्यादा की कोशिश कविता में आदमी को कवि बना देती है और कविता को जीवनहीन।''[७] कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी पश्चिम का अध्ययन भारतीय विवेक के आधार पर कर रहे थे। शुक्ल जी का समय पश्चिमी ज्ञान की उत्कृष्टता का समय था। ऐसे समय में शुक्ल जी अपने समकालीनों की तरह पश्चिमी ज्ञान से मुँह मोड़कर उसकी आलोचना करने के पक्ष में नहीं खड़े हो सकते थे। वे पश्चिमी ज्ञान को पूरब की आग में तपा रहे थे। पश्चिम के लिए उनकी भाव संवेदना के द्वार तो खुले ही हुए थे लेकिन पश्चिमी ज्ञानार्जन के लिए शुक्ल जी ने ही पहल की। अपने समय को सिर्फ पूरब के ज्ञान की जमीन पर समझना और पश्चिम को दुत्कार देना उनके वैचारिक खुलेपन की मानसिकता के लिए संभव नहीं था। शुक्ल जी पश्चिम को बिना जांचे परखे अस्वीकार या नकार नहीं देते। वे उसे हमेशा देसी प्रतिमानों के समक्ष रखते हैं। 'मलयज का कहना है कि ''शुक्ल जी ने पश्चिम को जीवनानुभूति के स्तर पर नहीं लिया, उनका साक्षात्कार उसके साथ जीवनानुभूति के स्तर पर नहीं हुआ, सोचने का यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है। पश्चिम से उनकी टक्कर और मुठभेड़ मुख्यत: वैचारिक स्तर पर थी, जो शुक्ल जी के वैचारिक खुलेपन के कारण ही संभव हुई।''[८]

दरअसल शुक्ल जी पश्चिम से मुठभेड़ करते हुए पूरब के जिस पिछड़ेपन के समाजशास्त्र को अपने जीवनानुभव के आधार पर अपनी 'रस–मीमांसा' और 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में गढ़ते हैं, मलयज उसी पिछड़ेपन को शुक्ल जी की 'रस–मीमांसा' के पाठ के दौरान महसूस करते हैं। आजमगढ़ में टौंस नदी के किनारे खड़े होकर शुक्ल जी की समीक्षा को समझने की कोशिश दरअसल शुक्ल जी के परिवेश ही नहीं बल्कि पूरब के पश्चिम से पिछड़ जाने के कारणों को तलाशने की कोशिश के साथ उसके समाजशास्त्र को समझने की कोशिश भी है। इसकी मूल्यवत्ता यह है कि शुक्ल जी से होते हुए यह दृष्टि मलयज में भी प्रभावस्वरूप कहें या परिवेशगत, आ गयी है।

शुक्ल जी की समीक्षा को समझने के लिए मलयज ने पहले उनके जीवन और संघर्षों को जाना–समझा था। जैसे मुक्तिबोध अपने लेख नवीन समीक्षा का आधार में वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक शक्ति पर बल देते हुए कहते हैं कि 'शुक्ल जी के जीवन की संघर्ष–मीमांसा को समझे बिना वे उनकी 'रस–मीमांसा' का ऐसा पाठ शायद नहीं कर सकते थे जिसकी प्रतिक्रियाएं टिप्पणियों के रूप में मलयज की पुस्तक 'रामचंद्र शुक्ल' में दर्ज हैं।' शुक्ल जी के जीवन के संघर्षों का विस्तृत ब्यौरा चंद्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित शुक्ल जी की जीवनी में मिलता है। चंद्रशेखर शुक्ल ने शुक्ल जी के स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों और गृहकलेश का ब्यौरा दिया है। शुक्ल जी का जीवन कई कठिनाइयों से भरा जीवन था। उसमें उनके दमे की बीमारी, पत्नी और विमाता की अनबन, पैसों की तंगी आदि उनकी कठिनाइयों को और बढ़ाते थे। चंद्रशेखर शुक्ल लिखते हैं : ''वे साल में आठ महीने किसी न किसी रोग से पीड़ित रहते थे। चैत्र और क्वार के आस–पास तीन महीने तो दमा हर साल ले लेता था। बीच के दिनों में कब्ज और बवासीर दोनों उन्हें सताया करते थे। इनसे बचे कुछ महीनों में सिरदर्द अपना हिस्सा लगाता था। परिवार

की आर्थिक दशा ऐसी न थी कि वे अपने स्वास्थ्य के लिए कुछ अधिक कर सकते। उसके योगक्षेम के प्रयत्न में अधिक परिश्रम करने में भी उनका स्वास्थ्य सुधर न सका। १९१८ई. में पिता के स्वर्ग चले जाने पर पूरे बीस आदमियों के सम्मिलित कुटुंब का भार उन पर पड़ा। नवदुर्गाओं के विवाह की चिंता ने उन्हें और भी चिंतित बना दिया... इस तरह परिवार की नाना समस्याओं को हल करने के लिए उन्हें अधिक परिश्रम करके इधर–उधर से धन जुटाना था।''[९]

शुक्ल जी का परिवार १८९३ ई. में मिर्जापुर आया था, जहाँ से शुक्ल जी १९०८ में काशी चले गए। मलयज इन २३ वर्षों के इतिहास को शुक्ल जी की संस्कार–चेतना और व्यक्तित्व निर्माण का इतिहास कहते हैं। मलयज ने मिर्जापुर को (जहाँ शुक्ल जी ने अपनी युवावस्था का जीवन जिया) शुक्ल जी की संस्कारभूमि और काशी को उनकी कर्मभूमि माना है। शुक्ल जी पर लिखी गई मलयज की समीक्षा के आधार मलयज ने उनके जीवन के संघर्षों से उठाए संभवत: इसीलिए नामवर सिंह ने मलयज द्वारा लिखी 'रामचंद्र शुक्ल' पुस्तक (भूमिका) को 'मलयज की संघर्ष मीमांसा' कहा है। (हमें याद रखना चाहिए कि रामचंद्र शुक्ल पर लिखी मलयज की यह एक अधूरी पुस्तक है।) मलयज ने शुक्ल जी की रस मीमांसा का अध्ययन शुक्ल जी के जीवन संघर्षों को ध्यान में रखकर किया। एक तरह से हम कह सकते हैं कि मलयज ने शुक्ल जी की 'रस मीमांसा' को स्वानुभूत दायरे में लाकर विश्लेषित किया। मलयज ने 'रस मीमांसा' के अध्ययन के दौरान उन अनुभवों की जाँच–पड़ताल करने की कोशिश की है जो शुक्ल जी द्वारा 'रस मीमांसा' की रचना के केंद्र में मौजूद थे। मलयज जिस तरह से शुक्ल जी के साहित्य चिंतन का मूल्यांकन करते हैं और साथ ही, शुक्ल जी पर बात करते–करते एक तरह का आत्मवक्तव्य देने लगते हैं, उससे ऐसा लगता है कि मलयज शुक्ल जी नहीं बल्कि अपने ही साहित्य चिंतन के बंध खोल रहे है। और ऐसा सिर्फ मुझे ही नहीं लगता मलयज की पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' को पढ़ते हुए विजय मोहन सिंह भी ऐसा ही महसूस करते हैं। उनका कथन है कि उस अधूरी पुस्तक (आचार्य रामचंद्र शुक्ल) को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मलयज इसमें केवल शुक्ल जी की समीक्षादृष्टि का विश्लेषण नहीं कर रहे हैं बल्कि, उनके माध्यम से अपनी समीक्षादृष्टि का भी निर्माण कर रहें हैं।''[१०] इसलिए भी रामचंद्र शुक्ल पर मलयज का मूल्यांकन खुद मलयज को समझने के लिए बेहद जरूरी है और जैसा हमने ऊपर कहा कि मलयज के लिए शुक्ल जी के साहित्य चिंतन की समझ उनके व्यक्तित्व की समझ से जुदा नहीं है। शुक्ल जी को समझने के लिए मलयज जब उन पर लिखी आलोचनाओं की अपेक्षा चंद्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित उनकी जीवनी का पाठ करते हैं या कि आजमगढ़ में टौंस नदी के पाटों और इसके धूल में लस्त–पस्त क्षेत्र को समझते हुए शुक्ल जी के साहित्य चिंतन को समझने का प्रयास करते हैं, तब वे स्वयं अपनी रचनाओं–आलोचनाओं के पाठकों को यह संकेत देने का प्रयास करते हैं कि स्वयं उनका साहित्य चिंतन भी उनके जीवन से जुदा नहीं है। यहाँ मलयज एकाएक मुक्तिबोध सरीखे लगने लगते हैं, जो नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध नामक पुस्तक में वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति को साहित्य चिंतन का आधार बनाने पर बल देते हैं। कहते हैं कि ''असल में, वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति के अभाव

में साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा शक्ति थोथी होती है। इसीलिए समीक्षक का आदि कर्तव्य वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति का विकास करना है।''[११]

मलयज का साहित्य चिंतन उनकी जीवनानुभूतियों से अलग नहीं है और रामचंद्र शुक्ल ही क्यों; मलयज द्वारा विभिन्न लेखकों (मुक्तिबोध, रमेशचंद्र शाह, रघुवीर सहाय, आदि) पर लिखे गये उनके लेखों को देखा जाना चाहिए। इन लेखों में मलयज उक्त लेखकों के साहित्यिक बंध खोलने से पहले इनके व्यक्तित्व के बंध खोलने का प्रयास करते हैं। मलयज की समीक्षादृष्टि व्यक्ति को समझने के पहले उसके व्यक्तित्व को समझने पर बल देती है। बिल्कुल मुक्तिबोध की भाँति जैसे मुक्तिबोध साहित्यालोचन में वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति पर बल देते हैं और कहते हैं कि ''वास्तविक जीवन की ज्ञान–संवेदनात्मक और संवेदन–ज्ञानात्मक समीक्षा शक्ति का इतना ह्रास हो गया है कि सिद्धांतों के आधार पर साहित्यिक बातें देखी जाती हैं, किंतु जीवन सत्यों के आधार पर स्वयं सिद्धांतों का परीक्षण और प्रयोग नहीं किया जाता।''[१२] मलयज की कोशिश लेखक के जीवन–सत्यों के आधार पर उनके साहित्य को समझने की थी। उनके लेखक का जीवन उसके साहित्य चिंतन को समझने का आधार है। इसलिए उनके लेखों की शुरुआत एक तरह के संस्मरणात्मक लहजे होती है। ऐसा लगता है जैसे वो कोई यात्रा–वृत्तांत या स्मृति लेख लिख रहे हों। लेकिन जैसै–जैसे उनके लेखों को पढ़ते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, उनकी समीक्षादृष्टि साफ होती चली जाती है। शुक्ल जी पर लिखा मिथ में बदलता आदमी एक ऐसा ही लेख है। यह गौर करने लायक बात है कि शुक्ल जी के साहित्य को पढ़ते हुए मलयज उनकी आलोचनाओं पर नहीं बल्कि सीधे शुक्ल जी पर टिप्पणी करते चलते हैं। वे अपनी टिप्पणी में एक जगह कहते हैं शुक्ल जी उपयोगितावादी नहीं है। वे काव्य के वास्तविक सौंदर्य को समझते हैं। वे उसे उपदेश या शिक्षा कर्म की वस्तु भी नहीं मानते। वे काव्य का एक बड़ा उद्देश्य परिभाषित करते हैं– ज्ञान–प्रसार और भाव–प्रसार।''[१३] ऐसी तमाम पाद–टिप्पणियां शुक्ल के साहित्य–चिंतन पर एक मुकम्मल आलोचनात्मक समझ की स्रोतस्विनी हैं।

हम कह सकते हैं कि मलयज शुक्ल जी से केवल प्रभावित ही नहीं हैं बल्कि, मलयज की समीक्षादृष्टि का विकास काफी हद तक शुक्ल जी के पद–चिह्नों पर चलकर ही हुआ है। युगीन दबावों और परिस्थितियों ने जिस प्रकार शुक्ल जी के व्यक्तित्व का निर्माण किया था, मलयज की समीक्षा दृष्टि का विकास भी अपने समय के समानांतर हुआ। मलयज ने न सिर्फ शुक्ल जी की समीक्षा में प्रयुक्त शब्दों को अपनाया बल्कि आलोचना की शैली भी उनसे सीखी। इसीलिए मलयज द्वारा की गई शुक्ल जी की समीक्षाएं उस अकादमिक या बंधे–बंधाए ढाँचे पर नहीं चलती, जहाँ अधिकतर लेखक अटक जाया करते हैं। मलयज ने शुक्ल जी के जीवन–संघर्षो और रचनात्मक–आलोचनात्मक अवदान पर जितनी समझदारी से लिखा है, वह निश्चित ही उन्हें अन्य समकालीन आलोचकों से अलग रुतबा दिलवाता है।

सन्दर्भ :

१. रामचंद्र शुक्ल : सं. सिंह, नामवर, (ले.) मलयज, टिप्पणियाँ–१, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं., १९८७, पृ. ६३

२. रस मीमांसा : रामचंद्र शुक्ल, सं. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०२३, च.सं., पृ. ५
३. चिंतामणि (भाग–१) : शुक्ल, रामचंद्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, ७वाँ संस्करण, २००७, पृ. ०१
४. मलयज की डायरी–३ : सं. सिंह, नामवर, वाणी प्रकाशन, संस्करण १९९९–२०००, पृ. १९९
५. हिंदी साहित्य का इतिहास : शुक्ल, रामचन्द्र, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, संवत् २०३८, पृ. २३३
६. समकालीन हिंदी आलोचना : (सं.) श्रीवास्तव, परमानंद, साहित्य अकादमी, प्र.सं., १९९८, पृ. २६३
७. मलयज की डायरी–१ : सं. सिंह, नामवर, वाणी प्रकाशन, संस्करण २०००, पृ. ५१५
८. रामचंद्र शुक्ल : सं. सिंह, नामवर, (ले.) मलयज, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. १९८७, पृ. ८५
९. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (जीवनी) : ले. शुक्ल, चंद्रशेखर, सं. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, स्वराज प्रकाशन, संस्करण २००९, पृ. १०६
१०.बीसवी सदी का हिंदी साहित्य : सिंह, विजयमोहन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं., २००५, पृ.२५२
११. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध : मुक्तिबोध, गजानन माधव, राजकमल प्रकाशन (परिवर्द्धित संपरिवर्तित रूप में), प्र.सं., १९८३, तीसरी आवृत्ति, २००९, पृ. १६
१२. मुक्तिबोध रचनावली (भाग ५) : सं. जैन, नेमिचंद्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, इलाहाबाद, पटना,प्र.सं., १९८०, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण १९८६, द्वितीय आवृत्ति, २००७, पृ. ८७
१३. रामचंद्र शुक्ल : सं. सिंह, नामवर, ले. मलयज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. १९८७, पृ. ८८

•••

आलोचना:

छद्मवेषी राजनीति का जीवन्त दस्तावेज

*धनंजय कुमार चौबे

'काशी का अस्सी' उपन्यास में देश में चल रही राजनीति के माध्यम से समाज की पड़ताल की गयी है। राजनीति समाज को प्रभावित करती है। इस उपन्यास में राजनीति के भ्रष्ट चेहरे को दिखाया गया है। देश की राजनीति अपने मूल्यों को खोती जा रही है। उसका कोई सिद्धान्त या आदर्श नहीं रह गया है। अपने स्वार्थ के लिए लोग तरह–तरह के हथकण्डे अपनाते हैं। चारों तरफ भ्रष्टाचार, बेईमानी, घूसखोरी का साम्राज्य फैलता जा रहा है। सत्ता का जोड़–तोड़ सामाजिक मुद्दों की आड़ में हो रहा है। मंदिर–मस्जिद के मुद्दे को आधार बनाकर राजनीतिक पार्टियां अपना हित साधने में लगी हुई हैं। इसकी वजह से अस्सी में रहने वाले लोगों के व्यावहारिक जीवन में आने वाले परिवर्तनों को भी दिखाया गया है तथा राजनीति में आयी मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार इत्यादि की शिनाख्त भी की गयी है।

''कमंडल मंडल पर भारी पड़ रहा है।'' यह वाक्य उस समय के तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को विश्लेषित कर रहा है। १९९० में वी.पी. सिंह द्वारा लागू की गयी मंडल आयोग की रिपोर्ट सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े लोगों के हित में थी। वी.पी. सिंह ने सामाजिक परितर्वन की बात की थी, इसलिए उन पर सवर्ण जाति के लोगों द्वारा कटु टिप्पणियां की जाती हैं। तन्नी गुरू द्वारा कहा गया वाक्य उस समय की सवर्णों की मानसिकता को बखूबी दर्शाता है : ''जब वह विपिया भोसड़ी के हर जगह से दुरदुराया और लतियाया जा रहा था तो यही अस्सी–भदैनी है, जिसने उसका तिलक किया और कहा– राजर्षि! राजा नहीं फकीर है, देस की तकदीर है!... और ससुरा दिल्ली गया तो हमारे ही 'उसमें' डंडा कर दिया।'' मंडल आयोग के लागू होने से उच्च वर्ग की जातियों में खलबली मच गयी। वह यह नहीं स्वीकार कर पा रहे थे कि पिछड़ी और दलित जातियाँ समाज के मुख्य दायरे में आ जायें। पिछड़ी और दलित जातियाँ हजारों साल से गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी का दंश झेलते आ रही थीं और साथ ही साथ सवर्णों द्वारा शोषित भी की जा रही थीं– इन्हीं शोषण और असमानता के विविध रूपों को दूर करने के लिए मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू की गयी थी। परिणामस्वरूप इसका पर्याप्त विरोध हुआ। उस समय अयोध्या में मंदिर–मस्जिद का मुद्दा भी जोर पकड़ता जा रहा था। पूरा देश एक उथल–पुथल की स्थिति में था। चारो तरफ मंडल–कमंडल के झगड़े हो रहे थे। उस समय की राजनैतिक स्थितियां अराजकता के दौर से गुजर रहीं थी। स्वयं लेखक इन स्थितियों का ब्यौरा प्रस्तुत करता है : ''देश जल रहा था उसके पहले से। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पशिचम तक। सिर्फ दिल बचा था। दिल माने उत्तर प्रदेश! मंडल–कमंडल के झगड़े ने इसे भी लपेट लिया। दिल्ली

*शोध छात्र : हिन्दी विभाग, हैदराबाद वि.वि., हैदराबाद, मो. 09440111864

की सरकार अब गई की तब गयी–यही लगा हुआ था। पप्पू की दुकान के सामने, कहना वीरेन्द्र श्रीवास्तव का कि 'पी.एम. मंडल आयोग में फँस गया, सी.एम. बाबरी मस्जिद में और डी.एम. दोनों की व्यवस्था में– देश भोंसड़ी के जहाँ का तहाँ है।'' सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में कुछ पार्टियों ने अपने कदम बढ़ाए जरूर पर आगे चलकर वे भी अवसरवादी होते गये। स्वार्थ सिद्धि के लिए वे सामाजिक परिवर्तन के मुद्दे को भुनाते रहे। इसके बारे में उपन्यासकार लिखता है : ''रामवचन पांडे ने घोषणा की कि कम्युनिस्ट पार्टियों और डोम में कोई फर्क नहीं है। जिस तरह डोम घाट (मसान) पर लकड़ी वगैरह जुटाकर मुर्दे का इन्तजार करता रहता है, उसी तरह ये पार्टियाँ भी टकटकी लगाए बैठी रहती हैं कि सरकार कब गिरे।'' सत्ता का जोड़–तोड़ इन सामाजिक मुद्दों की आड़ में खेला जा रहा है। राजनीति अवसरवादी होती जा रही है। कोई उनकी बातों को तवज्जो नहीं देता है। उनकी हर बात को शक की निगाह से देखा जाता है। कोई इनकी बातों का विश्वास नहीं करता है। रामवचन पांडे अस्सी के बड़े–बुजुर्ग नेता है। उनकी समाज में क्या स्थिति है इसको लेखक ने पात्र के मुँह से ही कहलवाया है : ''इस देश में बुद्धिजीवी से बेकार कुछ भी नहीं है जी। अब यही देखिए, मैं एम.एस.सी. हूँ। पीएच.डी. हूँ। नेता हूँ, बुद्धिजीवी हूँ लेकिन गाँव जाता हूँ तो कोई मुझ पर विश्वास नहीं करता। जहाँ गाँव घर की किसी गंभीर समस्या पर बात होती है, लोग सीधे–सीधे कह देते हैं, अरे इनसे क्या पूछ रहे हैं, ये तो नेता हैं। यहीं नहीं जब हमारे दरवाजे का बनिहार हमारे ही काम में घंटे भर के लिए बाहर जाने लगता है, चाहे वह खलिहान का काम हो, चाहे कोई और– संदेह से मेरी ओर देखता है और पूछता है– नेताजी! अभी तो यहाँ बैठे रहिएगा न! जरा नजर रखिए, आ रहे हैं। वह चला तो जाता है लेकिन उसके भीतर बराबर डर रहता है कि कहीं मैं उठकर चला न जाऊँ।''

आज मस्ती–अलमस्ती से जीने का पाठ पढ़ाने वाली अस्सी की संस्कृति पर संकट छाया है, विपदा आन पड़ी है। अस्सी की राजनीतिक गतिविधियाँ समय के साथ बदलती रहती हैं। पार्टीयों के मूल्य और सिद्धान्त कहने भर की चीजें हैं। समय आने पर वह बदल जाते हैं। इस पर हरिद्वार पांडे कहते हैं : ''यहाँ हफ्ते भर के भीतर सारा समीकरण बदल जाता है और सिद्धान्त धरा रह जाता है। क्यों नहीं देखते लोग कि ३ अगस्त १९९० को देवीलाल के निकाले जाने पर जो लोग 'वी.पी. सिंह जिन्दाबाद' और 'देवीलाल मुर्दाबाद' बोल रहे थे, वही लोग १५ अगस्त १९९० को मंडल आयोग की घोषणा के बाद 'वी.पी. सिंह मुर्दाबाद' बोलने लगे।'' यह सिर्फ अस्सी की स्थिति नहीं बल्कि पूरे उत्तर भारत की स्थिति है। घटना परिदृश्य में बदलाव हुआ। यह वही समय था जब भारतीय जनता पार्टी राममंदिर के मुद्दे पर लोगों को एकजुट करने में लगी थी। इसका असर भी अस्सी की दिनचर्या पर पड़ा। लोगों की आस्था को आधार बनाकर एक व्यापक आंदोलन का रूप दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हजारों की संख्या में लोग रामभक्त हो गये। लेखक ने अस्सी पर इसके प्रभाव को दिखाया है : ''इसी बीच 'हर हर महादेव' की जगह 'जय श्री राम' ने ले ली। पप्पू की दुकान में भाँग और चाय की खपत बढ़ गई। अस्सी के सभी 'आदिवासी' रामभक्त हो गये और कारसेवा की तैयारी में लग गये। २३ अक्टूबर को आडवानी की गिरफ्तारी ने सनसनी पैदा कर दी! शंख, घड़ियाल, आतिशबाजी,

मशाल, नारे अस्सी की दिनचर्या बन गए।'' २३ अक्टूबर को आडवानी की गिरफ्तारी के बाद अस्सी के साथ ही साथ पूरे देश की व्यवस्था छिन्न–भिन्न होने लगी। हर तरफ भय का माहौल दिखायी दे रहा था। लोग एक दूसरे को शक की निगाह से देख रहे थे। अस्सी जो वर्गहीन समाज का सबसे बड़ा जनतंत्र था वहाँ भी जातिगत राजनीति घर कर गयी थी। हिन्दू–मुस्लिम के आपसी संबंध खराब हो रहे थे। यह सारा परिदृश्य मिलकर उस समय के समाज को अशांति से भर रहा था। इसके बारे में रामवचन पांडे कहते हैं : ''पूरा देश एक भयानक हादसे से गुजर रहा है! आप यहाँ खड़े हैं, कौन जाने कोई आतंकवादी आपकी ताक में कहीं छिपा हो! आप यहाँ बैठे हुए हैं, कौन जाने आपकी सीट के नीचे बम रखा हो, आप यादव के समर्थन में बोलिए, बाभन मार देगा। बाभन के समर्थन में बोलिए, यादव मार सकता है। आप दाढ़ी रखे हुए हैं, हो सकता है मदनपुरा या नई सड़क से गुजरते हुए बच जाएँ, मगर हिन्दू मुहल्ले से भी बच निकलेंगे– इसकी कोई गारंटी नहीं!... देखिए उस पटरी पर केसरिया पट्टा बाँधे चीखते–चिल्लाते लोगों का जुनून।'' हिन्दू आस्था का आधार लेकर खड़ा किया गया यह आंदोलन एक व्यापक रूप लेता जा रहा था, जिससे समाज और समाज के लोग प्रभावित हो रहे थे। हिन्दू समाज के अधिक से अधिक लोग इसमें शामिल हो रहे थे। इसके पीछे कहीं न कहीं कारण रूप में धार्मिक आस्था और विश्वास ही रहा है। अस्सी पर कारसेवकों की भीड़ और उस भीड़ से उछलता हुआ नारा ''राम लला हम आएगें।'... राम लला तुम मत घबराना– हम तुम्हारे साथ हैं।'' इसका परिणाम यह हुआ कि मस्जिद के ऊपर भगवा झंडा लहराया, सरयू की जगह अयोध्या में खून की नदी बही और अस्सी पर कर्फ्यू लागू हुआ जो बाद में हट गया। मंदिर–मस्जिद के मुद्दे ने समाज को दो भागों में विभक्त कर दिया– हिन्दू और मुस्लिम। उस समय का समाज एक भयानक दौर से गुजर रहा था। हर तरफ हिंसा, मारपीट का माहौल व्याप्त हो गया था। इन सारी स्थितियों से अस्सी का समाज व्यापक रूप से प्रभावित हो रहा था। इन स्थितियों का लाभ राजनीतिक अपने–अपने ढंग से उठा रहे थे। राजनीति किस कदर अपने स्वार्थ के लिए धार्मिक आस्था, विश्वास को आधार बनाकर लोगों के बीच कटुता पैदा कर रही है इसकी पूरी बानगी देखी जा सकती है। राजनीति का कोई आदर्श और सिद्धान्त नहीं होता है। उनके लिए ''आदर्श बालपोथी की चीज है।'' काशीनाथ सिंह लिखते हैं कि राजनीतिक लोगों का सिद्धान्त रहा है ''आदर्श उच्चतम रखो लेकिन जियो निम्नतम। यही परम्परा रही है अपनी।'' सिद्धान्त के बारे में लिखते हैं ''हजार बार कह चुका हूँ। सिद्धान्त सोने का गहना है। रोज–रोज पहनने की चीज नहीं। शादी–व्याह, तीज–त्यौहार में पहन लिया बस। सिद्धान्त की बात साल में एक आध बार कर ली, कर ली, बाकी अपनी पालिटिक्स करो।'' राजनीति अब केवल भ्रष्टाचार का अड्डा भर रह गयी है। दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं। एक पात्र के मुख से उपन्यासकार कहलवाते हैं : ''भ्रष्टाचार लोकतंत्र के लिए आक्सीजन है, है कोई ऐसा राष्ट्र जहाँ लोकतंत्र हो और भ्रष्टाचार न हो? जहाँ नजर दौड़ाइए पूरी दुनिया पर ये छोटी–बड़ी राजनीतिक पार्टियाँ क्या हैं? अलग–अलग छोटे–बड़े संस्थान, भ्रष्टाचार के प्रशिक्षण केन्द्र, सिद्धान्त मुखौटे हैं जिसके पीछे ट्रेनिंग दी जाती है।'' स्वतंत्रता के बाद आज राजनीति किस कदर भ्रष्ट हो चली है इसका यथार्थ रुप यहाँ दिखाया गया है। चुनाव लड़ने के लिए टिकट उसी को

दिया जाता है जो पन्द्रह–बीस लाख खर्च कर सके। स्वयं कथाकार लिखता है ''आप क्या समझते हैं, जो आदमी चुनाव लड़ने में पन्द्रह–बीस लाख खर्च करेगा वह विधायक या सांसद बनने पर ऐसे ही छोड़ देगा आपको? देश को? चूतिया है क्या?'' भ्रष्टाचार लोकतांत्रिक समाज में किस कदर व्याप्त हो गया है इसका पूरा खाका काशीनाथ सिंह द्वारा इस उपन्यास में खींचा गया है। जिस देश की लोकतांत्रिक प्रणाली ही भ्रष्ट होगी उसका भविष्य क्या हो सकता है, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। अब राजनीति केवल बेरोजगारों, माफियाओं, बाहुबलियों का अड्डा बनता जा रहा है। राजनीति किस प्रकार जाति आधारित हो गयी है उसके विषय में काशीनाथ सिंह लिखते हैं : ''राजकिशोर मेरी ओर मुखातिब हुए– 'यह है जाति का नया चेहरा। मुलायम जिसे टिकट दें, वह अहीर, कांसीराम जिसे टिकट दें, वह चमार, नितीश कुमार जिसे टिकट दें, वह कुर्मी, ठाकुर, बाभन, बनिया, लाला, चाहे जो हो। कांसीराम का टिकट मिला नहीं की चमार हुआ।'' यह जातिगत भावना सिर्फ राजनीति तक ही सीमित न होकर बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी फैल जाती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इसका विस्तार होता है। प्रदेश के मुख्यमंत्री किस तरह विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर अपनी जाति के लोगों को बैठाते हैं, उसे चौथीराम यादव के प्रसंग में दिखलाया गया है। ''जब उत्तर प्रेदश में मुलायम और बिहार में लालू यादव सत्ता में आये तो दोनों इस भारतभूमि पर ऐसे यादव शिरोमणि की खोज शुरु किये कि जो विद्वान भी हो और समझदार भी। और दोनों की नजर आकर चौथीराम पर टिकी। उन्हें अपने–अपने राज्य के विश्वविद्यालय के लिए कुलपति की जरूरत थी। ऐसा कुलपति जो अपना भी भला करे, उनका भी और बिरादरी का भी।''

इस प्रकार समाज के हर क्षेत्र में जातिवाद, घूसखोरी का बोलबाला है। प्रत्येक आदमी अपने–आप तक सीमित होता जा रहा है। सामाजिकता समाज से गायब होती जा रही है। इस संबंध में प्रो. चौथीराम यादव *कथन* पत्रिका में लिखते हैं कि आज मूल्यहीनता की चुनावी राजनीति का चेहरा इतना विकृत हो गया है कि उसके दर्पण में आदमी की आदमियत धुंधली पड़ गई है, उसकी विचारधारा निरर्थक हो गयी है और आदमी का सारा वजूद उसकी जाति तक केन्द्रित होकर रह गया है। हर आदमी दूसरे के निगाह में संदिग्ध है। विश्वसनीयता का ऐसा घोर संकट इससे पहले भारतीय राजनीति में कभी नहीं आया था। मुस्लिम समाज आज अपने–आप को अलग–थलग महसूस कर रहा है। वह अगर हिन्दूओं से साथ रहता है तो भी लोग उन पर विश्वास नहीं करते हैं। मुस्लिम समाज की इस तकलीफ का चित्रण काशीनाथ सिंह बखूबी ढंग से करते हैं। नईम कहता है : ''साहब बुरा मत मानिएगा, एक बात कहता हूँ। मेरी सारी जिन्दगी इसी मुहल्ले में बीती, थोड़ी बहुत पढ़ाई लिखाई भी यहीं की, इसी मुहल्ले के बच्चों के साथ खेला, हर कोई जानता भी है मुझे। रोजी–रोटी भी उन्हीं से चलती है। पूरा परिवार चलता है। मैं उनसे बाहर नहीं हूँ, औरों की बात नहीं कहता। मैं वोट उसे ही देना चाहता हूँ जिसे मुहल्ला देना चाहता है। लेकिन यह भी जानता हूँ कि मैं उसे वोट दे भी दूँ तब भी कोई विश्वास नहीं करेगा। तकलीफ बस इसी से होती है।'' आज भी लोग मुस्लिम समाज को शक की निगाह से देखते हैं, उन पर विश्वास नहीं करते हैं। यह किसी भी समाज की जाति के लिए कष्टदायक स्थिति होती है। उपन्यासकार ने देश की संसदीय व्यवस्था के बारे में प्रतीकात्मक ढंग से अपने विचारों को व्यक्त किया है।

जातकावली की एक कथा के माध्यम से संसद में पक्ष—विपक्ष का यथार्थ चित्रण किया गया है। कौआ बोला ''आप उसे राजा चुनने और बधाइयाँ देने से पहले यह सोच लें कि जब इतनी खुशी का समाचार सुनने पर उसका चेहरा ऐसा है, तो क्रोध करेगा तब कैसा होगा? इसके बाद तो उल्लू ने कौए को दौड़ा लिया।'' यहाँ उल्लू और कौआ देश की संसदात्मक प्रणाली के पक्ष—विपक्ष के प्रतीक हैं। वह सिर्फ विरोध के लिए विरोध करते हैं, जनता उनके लिए गौण हो चुकी है। वह सिर्फ अपने हित के लिए जनता को ठगते हैं, गुमराह करते हैं। उनका अपना हित सर्वोपरि है उसके लिए वह किसी हद तक जा सकते हैं। उपन्यासकार ने यहाँ पूरी संसदीय प्रणाली के चेहरे को नंगा कर दिया है। जिस देश की संसद में इस तरह के लोग बैठे हों वहाँ की शासन व्यवस्था कैसी होगी, इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। चारों तरफ भाई—भतीजावाद की राजनीति, घूसखोरी, बेईमानी, जाति—पाँति का वैमनस्य व्याप्त होता जा रहा है। जोड़—तोड़ की राजनीति से लोग उच्च ओहदों पर पहुँचने लगे हैं। लेखक इन सब स्थितियों के प्रति अपनी झुझलाहट व्यक्त करता है : ''मित्रों, त्रेता के जमाने से उड़ते हुए इस कलिकाल में दोनों भोसड़ी के दिल्ली पहुँच रहे हैं।'' 'काशी का अस्सी' में राजनीति के हर पहलू को उजागर किया गया। आज जोड़—तोड़ की राजनीति लोगो के जेहन में घर करती जा रही है। हर तरफ जाति आधारित वोट की राजनीति का खेल शुरू हो गया है। अपने स्वार्थ की राजनीति हर तरफ देखने को मिल जाती है। पहले राजनेता जनता के सुख—दु:ख के भागीदार हुआ करते थे, पर आज स्थिति वैसी नहीं है। आज के समय में राजनीति अपने आप तक ही सिमट कर रह गयी है। चुनाव में टिकट पाने के लिए पैसे का मोल—तोल होता है। राजनीतिक पार्टियां भ्रष्टाचार का अड्डा बनती जा रही हैं। ऐसे समय में इस विषय पर बात करना बेहद महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। काशीनाथ सिंह ने इस छद्मवेषी राजनीति को बखूबी पहचाना और अस्सी को केन्द्र में रखते हुए पूरे देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था को जीवन्त और बेलौस ढंग से प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ :

१.काशी का अस्सी : काशीनाथ सिंह,

२.वागर्थ, अरविन्द चतुर्वेद, जून २००२

३.कथन : प्रो. चौथीराम यादव, अगस्त २०००

•••

आलोचना:

स्त्री और श्रमिक जीवन का महाख्यान

***कल्पना पन्त**

समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य ने पिछले कुछ वर्षों में व्यापक फलक ग्रहण किया है जिसमें युगचेतना, संस्कार, जीवनानुभव आदि सभी कुछ विद्यमान हैं। वस्तुत: उपन्यास एक ऐसी विधा है जिसके माध्यम से रचनाकर अपने युगीन यथार्थ को, अपने विचारों और भावों को विस्तृत रूप से व विविध आयामों में प्रस्तुत कर सकता है। सर्जक का उपन्यास के प्रत्येक पात्र के साथ एक गहरा संवेदानात्मक रिश्ता होता है और सर्जक की पात्र के साथ यही संवदेना पाठक को उपन्यास से जोड़ती है। उपन्यासकार उन घटनाओं को अभिव्यक्ति देता है जो हमारी आँखों के सामने, हमारे आस—पास घटित होता है। किन्तु उसकी सफलता इसी बात में निहित है कि वह उन रोजमर्रा की घटनाओं की सहज और विश्वसनीय अभिव्यक्ति दे।

पिछले कुछ दशकों में हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में लेखिकाओं ने अपने युगीन परिवेश को, उस परिवेश में स्त्री की वास्तविक स्थिति को परत—दर—परत बड़ी सूक्ष्मता के साथ उद्घाटित किया है। सदियों से पर्दे के पीछे रही स्त्री के अन्तर्सत्य को एक विस्तृत कैनवॉस पर चित्रित करने में लेखिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। समाज में स्त्री को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बहुत देर से मिली। उसे शिक्षा, चुनाव, आत्मनिर्णय आदि से संबंधित अधिकारसम्पन्नता कभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हुई। २१वीं सदी में भी देश के अधिकांश हिस्सों में स्त्रियां अपने अधिकारों से वंचित हैं। आज भी समाज में ७० से ८० प्रतिशत स्त्रियां अपने कैरियर, विवाह आदि के संबंध में स्वतंत्र निर्णय नहीं ले सकती। इसके लिए वह पिता अथवा परिवार के अन्य सदस्यों पर ही निर्भर करती हैं। आज की स्त्रियों की पीड़ा, बेबसी, शोषण, यातनाओं आदि को समकालीन कथा लेखिकाएं अपनी रचनाओं में मूर्तमान कर रही हैं। अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से ये लेखिकाएं समाज में जागरूकता फैलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं और स्त्रियों की चेतना को झंकृत करते हुए यह संदेश दे रही हैं कि उन्हें एक जागरूक महिला बनकर अपने अस्तित्व व अस्मिता के लिए संघर्ष करना होगा। शोषण से मुक्ति उन्हें स्वयं ही प्राप्त करनी होगी। अत्याचारों के विरुद्ध स्वयं लड़ना होगा और पुरुष वर्चस्ववादी समाज में अपने स्थान की सही शिनाख्त भी उन्हें स्वयं ही करनी होगी। इसीलिए भारतीय परिप्रेक्ष्य में जो भी नारीवादी आंदोलन चले या लेखिकाओं के माध्यम से स्त्री विमर्श की सशक्त अभिव्यक्ति हुई, उसका मूल स्वर प्रतिरोध का तथा साथ ही प्रखर जागरूकता का रहा है। समकालीन महिला उपन्यासकारों ने नारी के एक नये रूप की अभिव्यक्ति की है जो परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध है। जो पति को अपना मालिक नहीं अपितु साथी मानती हैं। जो स्वयं को मात्र भोग्य वस्तु नहीं अपितु बराबर की भोक्ता मानती हैं। जो अन्याय या अत्याचार के विरुद्ध जोरदार प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। वह सभी क्षेत्रों में पुरुष के बराबर कार्य

*शोध छात्रा : हिन्दी विभाग, हैदराबाद वि.वि., हैदराबाद, मो. 09492062285

करने का और स्वयं को सतत् ऊर्जावान बनाये रखने का माद्दा रखती है। लेखिकाएं विवाह, शिक्षा आदि के संबंध में स्त्रियों की स्वतंत्रता, काम संबंधों के प्रति उनके स्वतंत्र दृष्टिकोण, अपने जीवन को अपनी शर्तों पर जीने का हक आदि को केन्द्र में स्थान देती हैं और इनकी पुरजोर ढंग से वकालत करती हैं। समकालीन कथा लेखन के क्षेत्र में लेखिकाओं की एक बड़ी तादात वर्तमान है। जिनमें से कुछ लेखिकाओं का दृष्टिकोण विद्रोहपरक है और कुछ का शालीनतापूर्ण। चित्रा मुद्‌गल अपनी शालीनतापूर्ण संघर्षशीलता के लिए जानी जाती है। चित्रा मुद्‌गल का उपन्यास 'आवां' बहुआयामिता से युक्त विस्तृत फलक का बहुचर्चित उपन्यास है। इसमें समकालीन भारतीय स्त्री की यातनाओं, उसकी संघर्षशीलता, उसके सपनों के साथ ही समाज में उसकी वास्तविक स्थिति और पग–पग पर होने वाले शोषण को प्रामाणिकता के साथ पुरजोर ढंग से व्यक्त किया गया है। चित्रा मुद्‌गल ने औरत के दु:ख दर्द और नारी–मुक्ति के सवालों को उपन्यास की मुख्य विषय–वस्तु बनाया है। 'आवां' उपन्यास के केन्द्र में एक मजदूर की बेटी नमिता का जीवनसंघर्ष है। नमिता एक साथ कई जिन्दगियां जीती है। पिता की रोगग्रस्त जर्जर देह की सेवा से लेकर छोटे भाई–बहन की पढ़ाई की चिन्ता और कर्कशा मां की कटूक्तियों को झेल कर पापड़ बेलने, जगह–जगह नौकरी की अर्जियां देने और लगातार कोशिशों के बाद थक–हार कर लौटती नमिता घर को चहकता देखना चाहती है; इसीलिए उदास नहीं होती। 'आवां' नमिता के संघर्ष, उसकी यातना और अंत में उसकी असल जमीन की सही शिनाख्त करता है।

नमिता दस साल की उम्र में अपने मौसा की विकृत यौन मानसिकता का शिकार बनती है। आज समाज में इस तरह के बहुतेरे उदाहरण देखने को मिलते हैं जहां लड़की के करीबी रिश्तेदारों के द्वारा उनका शोषण होता है। यह आकड़ें बेहद चौकाने वाले हैं कि १०० बच्चों में से ५० बच्चे यौन शोषण के शिकार होते हैं, इनमें लड़कियों की संख्या ज्यादा होती है। इन लड़कियों को डरा–धमकाकर चुप करा दिया जाता है। नमिता के मौसा का व्यक्तव्य भी इसी बात को पुष्ट करता हुआ दिखाई दे रहा है : ''अच्छा है, वह मुँह सिए रहे, यह भी नहीं कि उसके साथ ही ऐसा हो रहा। सभी लड़कियों के संग यही होता है। बस, किसी को किसी के विषय में भनक नहीं लगती, चुप रहेगी, अनेक फायदे है।''[१] बचपन में मौसा ने पहली बार अपने घर में उसका शीलभंग किया था और मौसी उस साजिश को दबाने में पूरी तरह सफल रही थी। बालिका के रूप में विरोध कर सकने की असहायता के बावजूद अपनी माँ से सबकुछ बताने पर भी जबरन अपनी माँ के द्वारा, एक औरत के द्वारा चुप करा दी जाती है। नमिता के साथ माँ भी सौतेला व्यवहार करती है। नमिता अपने पिता के बिस्तर पकड़ते ही परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ संभालने लगती है। बावजूद इसके नमिता की माँ बेटे और बेटी में फर्क महसूस करती है। वह कहती है कि : ''नमी की जगह आज हमारा जवान बेटा होता तो आपद विपद का सहारा होता। मान लिया, लड़की कमा–धमा रहे लड़कों के बराबर कमा रही है मगर ठहरी चार–दिन की चाँदनी। दफ्तर में किसी से लप्पा–डुग्गी हुई नहीं कि मिनट खांड नहीं लगेगा प्रेम में अनारकली बनते। लड़के की बात जुदा! सलीम बन भी जाए तो अनारकली आती तो अपने ठियां–ठिकाने।''२ इतना ही नहीं नमिता की माँ अपनी छोटी बेटी मुनिया को मोटी फीस से बचने के लिए हिन्दी

स्कूल में दाखिल करवा देती है। जबकि लड़का होने और भविष्य में सारी आशाओं का केन्द्र–बिन्दु होने के सबब से बेटा छुन्नू अंग्रेजी स्कूल में पढ़ता है। यही नहीं उनके पालन–पोषण में भी भेदभाव दिखाती है। ट्रेन में अंजना वासवानी के पूछने पर नमिता कहती है : ''मोटी फीस के चलते माँ ने बहन को अंग्रेजी स्कूल से निकालकर हिन्दी में डाल दिया गया, पढ़ाई छुड़ाई नहीं, यही गनीमत है।''[३]

आज समाज में स्त्री में इतने परिवर्तन आने के बावजूद एक औरत होकर भी अपनी बेटियों के प्रति माँ किस तरह का भेदभाव रखती है, यह हमें 'आवां' उपन्यास में देखने को मिलता है। क्रूर और कर्कशा माँ नमिता को अपमानित करने का एक भी अवसर नहीं छोड़ती है। बस उसके पास लकवे से पीड़ित पिता के स्नेह और सहानुभूति का ही संबल है। नमिता अपने सपनों को साकार करने के लिए जब बाहर की दुनियां में कदम रखती है तो उसे वहाँ भी शोषण का शिकार होना पड़ता है। देवीशंकर पाण्डेय के परिवार के प्रति अन्ना साहब काफी सहृदय से दिखते है। उपन्यास में अन्ना साहब एक सशक्त मजदूर यूनियन नेता के रूप में सामने आते हैं। घर की आर्थिक स्थिति को देखते हुए अन्ना साहब नमिता को अपने पिता की जगह 'कामगार आधाड़ी' में नौकरी दे देते हैं। बेटी जैसा मानते हुए भी एक दिन अन्ना साहब उसका यौन शोषण करते हैं। अन्ना साहब का कथन है : ''साफ कहूँ तुमसे? साफ कहने का मैं आदी हूँ, देखो, दोस्त की बेटी हो तुम, बेटी नहीं हो मेरी, पिता समान हूँ मैं तुम्हारा, पिता नहीं हूँ।''[४]... 'मैंने तुम्हारे साथ विश्वासघात किया? एक मामूली टुच्ची सी हरकत भर की। उसे टुच्चा समझोगी तो लगेगा भी नहीं।''[५] नमिता उस विकृत यौनाचार पर चुप रहती है। आखिर ऐसा क्यों होता है कि स्त्री खुलकर सामने नहीं आती हैं?... ''तो क्या इसका जवाब यह है कि, हमारे समाज में जब तक लड़कियाँ घर के भीतर इतनी उपेक्षित रहेंगी कि उनका आत्मविश्वास मरा रहेगा, बाहर के कुटिल संसार के संसर्ग में आने पर, वे, इसी तरह, अपने उपभोग में साझेदार बनती रहेंगी। जब तक वयस्क होती लड़की की पहचान एक मूल्यवान व्यक्तित्व की तरह नहीं बनेगी, वह यूं ही दुविधाग्रस्त, विभाजित और स्व–शोषित रहेगी। यह निराशावाद नहीं बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की निर्मम सच्चाई है।''[६] श्रमिक नेताओं और जनसंगठनों से उम्मीद की जाती है कि वे दबे–कुचले व पीड़ित वर्ग को ऊपर उठाने में मदद करेंगे; लेकिन पुरुष वहाँ भी आखिर पुरुष ही निकलता है। शिकारी, स्त्री देह के आखेटक अन्ना साहब जैसे श्रमिक नेता भी नमिता जैसी लड़कियों की देह का शिकार करने के लिए कैसे–कैसे तर्कों का सहारा लेते हैं : ''देह मुझे नहीं भोगती। भूले भटके मैं स्वयं अपनी दैहिक और मानसिक थकान उतारने के लिए उसका उपयोग कर लेता हूँ और नई स्फूर्ति, नई ऊर्जा के साथ श्रमिक सेवा में संलग्न हो उठता हूँ।''[७]

एक दलित श्रमिक और उभरता नेता पवार नमिता से विवाह कर खुद को अन्ना साहब के समानांतर एक बड़े नेता के रूप में स्थापित होने के सपने पालने लगता है। वह नमिता के प्रति सदैव संवेदनशील रहता है। नमिता के अधिकांश संवाद उसी से होते हैं। वह सच्चे मित्र की भांति नमिता को अन्ना साहब के प्रति सावधान करता है। पवार दलित है और नमिता ब्राह्मण। इन दोनों के पारस्परिक आकर्षण के द्वारा दलित विमर्श का आवश्यक मुद्दा भी आया है। पवार का चरित्र

बड़ा जटिल है, नारी विमर्श पर वह उन्मुक्त रूप से अपने विचार प्रकट करता है, और नारी स्वातंत्र्य का उपहास करता है। नमिता उसके विषय में कहती है : ''कितना जटिल है पवार... उलझी हुई ऊन सा, अपनी आकर्षक छाती पर स्वयं फन काढ़े बैठे फुफकारते नाग सा।''[८]

पवार अति महत्वाकांक्षी है। नमिता जल्द ही पवार के पुरुष अहं, उसके गिरगिटी अंदाज, उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा में अपने सहज इस्तेमाल को समझ जाती है। वह उसे पसंद भी करती है लेकिन उसके जातिवादी जाल में फँसना उसे मंजूर नहीं। कार्यालय में विविध प्रकार के झंझावतों को झेलने के बाद भी नमिता अभावों से जुझते हुए उनसे पार पाने के लिए कड़ी मेहनत करती है। वह अपने स्वत्व व स्वाभिमान को जिन्दा रखती है। अन्ना साहब के कुत्सित आचरण से वह हतप्रभ तो होती है किन्तु वह डरपोक व कायर कतई नहीं है। वह साहस के साथ समाज की तमाम वर्जनाओं और रूढ़ियो के बावजूद अपने पिता का अंतिम संस्कार करती है। चित्रा जी ने ऐसे स्थानों पर नमिता के चरित्र को रूढ़ि का विरोध करने वाली आधुनिक नारी का रूप देने की चेष्टा की है। वह धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए नारी जीवन के आधुनिक रूप का प्रतिनिधित्व करती है : ''ताई की बगल में बैठी हुई वह सहसा उठ खड़ी हुई, क्रिया–कर्म मैं करूँगी, पण्डित जी मुखाग्नि भी मैं ही दूँगी, मैं पाण्डे जी की बड़ी बेटी हूँ, छुन्नू बच्चा है,... छुन्नू नहीं बैठेगा, कह दिया न मैं बैठूँगी। बाबूजी जिन्दा थे तो अक्सर कहा करते थे कि मरने पर तू ही मेरा क्रिया–कर्म करेगी।''[९] नमिता की माँ उसे लड़के के आगे तुच्छ होने का एहसास कराती रहती है और बार–बार लड़की होने की सजा देती है। मुखाग्नि के समय उर्मिला का इस पर कहा गया कथन बेटे और बेटियों में स्पष्ट रूप से भेद को दर्शाता है और बेटे को अधिक महत्व देता है : ''न मैं बाँझ हूँ न छूंछी, कुलदीपक बेटा जना है मैंने तो भला किस दिन के लिए जना है? बोल?''[१०] उपन्यास में स्त्री को अंतिम संस्कार से वंचित किया जाना भी स्त्री विमर्श का एक पक्ष है। संस्कृति के पुरूष–केन्द्रित इस प्रकार के सामान्य सिद्धान्तों को स्त्री विमर्श ने लात मारी है। प्राचीन मान्यताओं के अनुसार स्त्री द्वारा किसी की मय्यत पर कंधा देना शास्त्र सम्मत नहीं माना जाता था किन्तु, विमला बेन सटीक तर्क द्वारा इस रूढ़ि के विरूद्ध प्रत्युत्तर देती हैं : ''कूपमंडूक पुरुषों से हमें सीखना होगा कि स्त्रियों के लिए क्या शास्त्र सम्मत है, क्या नहीं? निर्दोष स्त्री की नृशंस हत्या करना शास्त्र सम्मत है, पाटिल? नहीं तो पूछो अपने हृदय से कि क्यों हमसे किसी ने उसके प्राण ले लिए? मैं कंधा किसी और की मय्यत को नहीं दे रही, उस स्त्री चेतना को दे रही हूँ जिसका गला घोंटने की कोशिश हत्या के बहाने हुई है। मैं हर जाति धर्म वर्ण की स्त्रियों का आवाहन करती हूँ कि वे सबकी सब श्मशान चलें और बारी–बारी से सुनंदा की मय्यत को कंधा दे।''[११] नमिता जब धनिकों की दुनियां में कदम रखती है तो वहाँ दूसरे ही प्रकार से उसका शोषण होता है। यह नई दुनिया आलीशान फ्लैटो के मालिकों, पंचसितारा होटलों, कीमती शराबों और दुनिया के सारे ऐशोआराम को मुहैया करने वाली दुनिया है। उपभोक्तावादी सुखभोगवाद, जो वस्तुतः पशुवाद है, उसके तकाजों वाली दुनिया। मैडम वासवानी से अनायास हुई भेंट नमिता को इस दुनिया में पहुँचा देती है और, शुरू होता है औरत के लिए गढ़े गये नरक का एक और आख्यान। नमिता धरती से उठाकर यहाँ एकदम आसमान

में पहुँचा दी जाती है। अपने इस नरक से अनजानी उसके सम्मोहन में डूबी अपने भाग्य को सराहते हुए। उसका मॉडल बनना, संजय कनोई से उसकी भेंट, इस करोड़पति व्यापारी का उस पर फेंका गया सम्मोहन जाल, अपनी कोख में संजय के बीज का एहसास, संजय के सानिध्य में भावी जीवन की रंगिनियों के सपने, तमाम कुछ घटित होता है कथा के इस प्रवाह में नमिता के साथ। किन्तु अन्ना साहब की हत्या की खबर से हुआ गर्भपात उस नरक की सारी भयावहता को उसके समक्ष उद्घाटित कर देता है, जिसके मोहक एहसासो में वह अभी तक डूबी हुई थी। संजय अनायास हुए इस गर्भपात को नमिता के कैरियर से जोड़कर देखता है और इसे नमिता की सोची–समझी रणनीति समझता है। नमिता के गर्भपात से आग–बबूला हुए संजय कनोई कहता है : ''जानती हो, बाप बनने के लिए मैंनें तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया। उस मामूली औरत अंजना वासवानी की क्या औकात थी कि तुम्हारे ऊपर पानी की तरह पैसा बहा सके। उसका जिम्मा सिर्फ इतना भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे, और सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए।... वह ऐसी पचासों लड़कियों को परोस सकती थी... मैं रंडियों से बाप बनना नहीं चाहता था, मुझे नहीं गंवारा थी ऐसी किराए की कोख। मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो, पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने।... हमारा मिशन सफल रहा... तेरह वर्ष बाद मैं बाप बना... अपने बच्चे का बाप... मैंने निर्मला को पिछले दिनों तुम्हारे बारे में बताकर मना लिया था... जैसे ही बच्चा होगा, हम उसे गोद ले लेंगे।... शादी मैं तुमसे करूँ, न करूँ... मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशो आराम से रह सकती थी।''[१२] यह है पूँजीवादी उपभोक्तवादी समाज का वास्तविक रुप, उसका अंदरुनी सच, जिसके अनुसार कोई भी चीज पूँजी के बल पर आसानी से हासिल की जा सकती है। जहाँ मनुष्य की भावनाओं की कोई कीमत नहीं होती है। मृदुला गर्ग इस संबंध में लिखती हैं : ''यह तथ्य भीतर तक झकझोर जाता है कि संजय कनोई की साजिश, प्रायोजित प्रेम व भौतिक सुविधाओं के प्रलोभन नमिता की देह नहीं, उसकी कोख को खरीदने के लिए थी। सैक्सुअल ठगी के इस स्वरूप को हिन्दी साहित्य में शायद पहले अभिव्यक्ति न मिली हो। कोख के लिए ब्याहे जाने की नियति तो, हिनदुस्तानी औरत, हमेशा से झेलती आयी है... 'आवां' ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के इस सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है।''[१३]

चित्रा जी की एक प्रमुख चिन्ता है नारी की आत्मनिर्भरता। जिसे उन्होंने 'आवां' में बखूबी चित्रित किया है। नारी विमर्श का लक्ष्य समानता, अधिकार, आर्थिक स्वतंत्रता आदि है, तभी स्त्री सही मायनों में मुक्त हो सकती है। वास्तव में नमिता आत्मनिर्भर बनने के लिए ही दर–बदर की ठोकरें खाती है। क्योंकि वह जानती है कि स्वयं अर्जन का नितान्त अपना ही आत्मसुख होता है। लेकिन अंजना वासवानी तथा पूंजीपति संजय कनोई द्वारा बुने जाल की वास्तविकता जानकर वह टूट जरूर जाती है, किन्तु जल्द ही उसके अनुभवों का परिष्कार उसे संभाल लेता है। हर्षा (अंतश्चेतना) उसकी हौसला अफ़जाई करती है, जिससे उसका स्व जागृत होता है। उपभोक्तावादी दुनिया की सच्चाई जानने के पश्चात् वह पुनः उस मजदूर आंदोलन से जुड़ने का निर्णय लेती है जिसे लेकर उसके मन में अनेक शंकाएं रही हैं। यह प्रश्न मन को बार–बार कुरेदने लगता

है कि स्त्री जब भी आगे बढ़ने का प्रयत्न करती है तो क्यों उसके कदमों को पग–पग पर रोक दिया जाता है? क्यों उसे मात्र देह की दृष्टि से देखा जाता है और उसके अस्तित्व को नकार दिया जाता है? नमिता मॉडलिंग की दुनिया की जिस ऊँचााई को छूती है वह संभवत: किसी भी मध्यमवर्गीय परिवार की लड़की का सपना हो सकता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि वहाँ उसके लिए सिर्फ आकाश है, अंतहीन आकाश और वह जमीन से पूरी तरह कट जाती है इसीलिए संजय कनोई से प्रवंचित होने के पश्चात् अपनी त्रासदी पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि ''अपना हक अपने पसीने से ही मिलता है। पसीना चाहे श्रम का हो या संघर्ष का, प्रतिवाद का हो या आक्रोश का... ।''[१४]

चित्रा मुद्गल अपने लेखन में नारी मुक्ति के प्रति सजग दिखाई पड़ती हैं। वे समाज में नारी के लिए बनाए गए बेवजह के नियमों, सामंती व्यवस्था, उपभोक्तावादी दृष्टिकोण, नौकरी पेशा महिला के संघर्ष आदि को केन्द्र में रखती हैं। 'आवां' उपन्यास में किस प्रकार एक मध्यमवर्गीय नवयुवती द्वंद्वात्मक जीवन जीते हुए समाज रूपी आवां में तपकर अंतत: आत्मनिर्णय लेती हुई स्वयं को सशक्त बनाती है, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। आज की स्त्री पुरुष वर्चस्ववादी समाज में अपने लिए पर्याप्त स्थान चाहती है। वह पुरूष के साथ समान साझेदारी और अधिकारसम्पन्नता चाहती है। इसके लिए वह आज भी संघर्षशील है और भविष्य में इन सबको प्राप्त करने के लिए आशान्वित भी। इसीलिए चित्रा मुद्गल ने स्त्री को देह से ऊपर पहचाने जाने की पुरजोर वकालत की है। चित्रा मुद्गल का 'आवां' स्त्री विमर्श का पहला महाख्यान है जिसे लिखने की प्रेरणा चित्रा मुद्गल को मुंबई में जिए गए अपने युवा जीवन से मिली। उन्होंने बताया : ''ट्रेड यूनियन से बतौर सक्रिय कार्यकर्त्ता मेरा लम्बा नाता रहा है... श्रमिक बस्तियाँ मेरी चेतना शिविर... यही सच है कि ट्रेड यूनियन के जिन अन्तर्विरोधों और अवमूल्यों से मेरा सामना हुआ, उसने मुझे अवाक् नहीं किया। विश्वास भी खण्डित हुआ मेरा, उस समय भी आक्रोश अभिव्यंजन के लिए छटपटा रहा था... सन् १९९२ में जब नियोगी हत्याकांड हुआ। इस खबर ने मुझे भीतर तक दहला दिया। उसी क्षण मैंने निश्चय किया कि अब समय आ गया है, मैं ट्रेड यूनियन पर लिखूंगी। अफसोस! मैं उस श्रमिक मसीहा के जिन्दा रहते 'आवाँ' पूरा नहीं कर पायी। १७ जनवरी १९९७ को जब मैंने उनकी (डॉ० दत्ता सामंत) की हत्या की खबर सुनी, हफ्ते भर मानसिक आधात से उबर नहीं पायी।''[१५] समाज सेवा के नाम पर ढोंग करने वाले व्यक्तियों की आंतरिक सच्चाई किस प्रकार की है इसे बखूबी देखा जा सकता है। लोगो में श्रमिक सेवा के नाम पर अपने स्वार्थ की पूर्ति की लालसा दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। श्रमिक आंदोलनो के प्रभावी होने के बावजूद असफल होने का कारण उनके स्वयं के अन्तर्विरोध हैं और इन असफलताओं से लाभ उठाकर तथाकथित श्रमिक नेता अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की तुष्टि करते हैं। यहीं से शुरु होता है शोषण का चक्र जिसमें स्त्री और मजदूर वर्ग पिसते चले जाते हैं।

चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'आवां' अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जो स्त्री से जुड़े तमाम सवालों व स्त्री मुक्ति के प्रश्न को बड़े फलक पर रेखांकित करता है। इसमें स्त्री मात्र दीन–हीन छवि में नहीं अपितु आत्मनिर्णय व अधिकारसम्पन्नता से युक्त दिखाई पड़ती है।

समाज के विभिन्न स्तरों की आंतरिक वास्तविकताओं को यथार्थ रुप में उद्घाटित करने वाला व स्त्री मुक्ति से जुड़े विभिन्न प्रश्नों को वास्तविक अभिव्यक्ति देने वाला चित्रा मुद्गल का वृहदाकार उपन्यास 'आवां' सही मायनों में एक महाकाव्यात्मक उपन्यास है। जिसे प्रख्यात आलोचक शिव कुमार मिश्र ने ''औरत के बजूद से जुड़े सवालों का दहकता सुलगता दस्तावेज और एक बड़े आकार का विचारोत्तेजक उपन्यास कहा है।''[१६] यह निश्चित ही समकालीन कथा–साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सन्दर्भ :

१.आवां, चित्रा मुद्गल, पृ. ३०२
२.वही, पृ. २४१
३.वही, पृ. २०
४.वही, पृ. १३६
५.वही, पृ. १३७
६.कथादेश, अगस्त २०००, मृदुला गर्ग : 'बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध की गाथा, पृ. ६३
७.आवां : चित्रा मुद्गल, पृ. १३६
८.वही, पृ. २६७
९.वही, पृ. ३९९
१०.वही, पृ. ३९९
११.वही, पृ. १५३
१२.वही, पृ. ५३९
१३.कथादेश : अगस्त २०००, मृदुला मार्ग : ' बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध की गाथा', पृ. ६२
१४.आवां : चित्रा मुद्गल, पृ. ५४१
१५.शब्द शिखर, इन्दुप्रकाश पाण्डेय, पृ. १३६
१६.'गगनांचल' : अशोक मनोरम: 'हिन्दी के अधुनातम नारी उपन्यास', पृ. १७९

•••

आलोचना:

उदारीकरण, सामाजिक संरचना और जयनंदन की कहानियाँ

***अमृतांशु**

यह सच है कि आर्थिक उदारीकरण ने वैश्विक शक्तियों के बीच तीव्र स्पर्धा को जन्म दिया। साम्राज्यवाद की पुनर्परिभाषा ने उच्च धनाढ्य वर्गों के समक्ष एक बार पुनः वर्चस्ववादी संस्कृति के विकल्प उपस्थित किये। सामान्य आदमी के लिए यह बहुत कुछ उपनिवेशवादी आक्रमण की तरह था जहाँ उसे सिर्फ शोषित होना था। पूंजीवाद और ताकत से लड़ना इस सामान्य आदमी के वश में नहीं था। इसके विपरीत विश्व बाजार के खुले आमंत्रण और उपभोक्तावादी नये वातावरण के विस्तार ने आम आदमी के भीतर एक छटपटाहट भर दी। किसी भी तरह वह अपनी सामान्य पहचान से विकसित, परिष्कृत, उन्नत, आधुनिक एवं महत्त्वपूर्ण होने के संसार में प्रवेश को आतुर होने लगा। भले ही यह सब सामाजिक मूल्यों की बलि पर सम्भव था या पारिवारिक चारित्रिक अवमूल्यन की शर्त पर। इस तीव्र स्पर्धा और स्वार्थपूर्ण छलांग ने मनुष्य को विखंडित किया, उसे पराजित किया और उसे कमजोर किया। एडवर्ड सईद कहते हैं कि ''मुख्य रूप से हमने अपने को कभी भी शायद इतना विखंडित, तीक्ष्ण रूप से पराजित और पूर्ण रूप से इतना क्षुद्र महसूस नहीं किया जितना आज इस बात को लेकर करते हैं कि हमारी असली सांस्कृतिक अस्मिता क्या है।'' (कल्चर ऐण्ड इंपरियलिज्म, १९९३)। यह नव उपनिवेशवादी संस्कृति वस्तुतः साम्राज्यवादी शक्तियों की ही पुरानी संस्कृति है। इस संस्कृति का मूल मंत्र विश्व स्पर्धा में पूंजी के आधार पर अपने को शक्तिशाली बनाए रखना है। परिणामतः इस नव उपनिवेशवादी संस्कृति के वाहकों की दृष्टि विकासशील देशों पर ही पड़नी थी, जहाँ उनकी सांस्कृतिक निजता और अक्षुण्णता को मोहक स्वप्नों के माध्यम से बड़े स्तर पर प्रभावित एवं शोषित किया जा सकता था। भारत जैसे देश में खुलेपन की स्वतन्त्रता, आधुनिक होने की जी–तोड़ कोशिश ने मर्यादा जैसे शब्द को जैसे किसी सन्दूक में बंद कर दिया। अब समूह के निर्णय की प्राथमिकता खत्म होने लगी और व्यक्तिगत पसंद और निर्णय ही समूह को प्रभावित करने लगे। यह एक सांस्कृतिक आक्रमण का रूप है जिसे कथाकार जयनंदन ने बड़ी शिद्दत और तल्खी से महसूस किया। 'विश्व बाजार का ऊँट', 'सूखते स्रोत', 'घर फूँक तमाशा', आई०एस०ओ० ९०००', 'प्रोटोकॉल', 'मल्टीपरपस सर्विसेज', 'ऑफिसर', 'धोखा', 'पेटू', 'चीयर अप कोला ब्लूम'–९६' और 'अप्सरा गार्डेन' जैसी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कहानियाँ देकर कथाकार इस सांस्कृतिक आक्रमण से जूझते आम आदमी के पक्ष में स्वयं को खड़ा कर उसे मानसिक और आत्मिक बल प्रदान करते हैं।

'विश्व बाजार का ऊँट' का सकलदेव जब कारखाने के आधुनिकीकरण के कारण बंद

*कुंजबिहारी विश्वकर्मा, शोध छात्र : उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., इलाहाबाद, मो. 09415392994

हुई इकाई से निकाल दिये जाते हैं तब वे कहते हैं : ''हम काम करना चाहते हैं, फिर हमारी दक्षता को नाकारा एवं समयातीत घोषित क्यों किया जा रहा है।'[१] ऐसे संघर्षशील विचार उनके हो सकते हैं, साम्राज्यवादी ताकतों के नहीं। कम्पनी द्वारा चलाये जा रहे 'अर्ली सेपरेशन स्कीम' (शीघ्र पृथक्करण योजना) में मजदूरों की छँटनी के समय कंपनी द्वारा अच्छी कीमत दी जाती है। जब सकलदेव की पत्नी कहती हैं कि ''दो लाख इन्ट्रेस्ट फ्री लोन और टिल रिटायरमेन्ट बेसिक जमा डी०ए० का सवा गुणा माहवार... नॉट बैड... फण्ड वगैरह लेकर साढ़े चार लाख तुरन्त मिल जायेगा... एक घर का इन्तजाम कर लेंगें''[२] तब सकलदेव बाबू व्याकुल हो उठते हैं : ''कितना पैसा मिल रहा है यह जोड़ लिया... लेकिन कितना कुछ छूट जायेगा... इसका हिसाब करना कितना मुश्किल है''[३] यह सकलदेव बाबू जैसे सैकड़ों हजारों, लाखों लोगों के पैरों के नीचे की जमीन खिसकने की छटपटाहट है। यह छटपटाहट एक कामगार के होने और न होने के नियोक्ता के आँकलन की है। जहां उसकी प्रतिभा, वफादारी और प्रतिबद्धता नहीं कंपनी का लाभ महत्वपूर्ण है। घर के भीतर सकलदेव बाबू का देशी संस्कार पत्नी को नीना के बजाय नैनावती के रूप में अधिक पंसद करता है। लेकिन पत्नी चेतावनी देती है कि 'खबरदार! किसने हक दिया तुम्हें मेरे नाम को देहातिन और गंवारिन जैसा बदल देने का।'[४] जब उन्हें अपनी बेटी गोल्डी के अफेयर के बारे में पता चला कि जिस लड़के से उसके प्रेम सम्बन्ध थे, अब उसने उस लड़के से मुँह मोड़कर नये सम्बन्ध विकसित कर लिए हैं तब उन्होंने इस बारे में बेटी से पूछा तो, बिना किसी संकोच के वह बोल पड़ी : ''डैड, मैंने अपना प्रेम बदल लिया है... यू नो इट इज ऐन एडवेंचर फॉर मी''[५]; यहाँ अपसंस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखता है। ''घर फूँक तमाशा' का टेकलाल बेरोजगार हो जाने के बाद जब एक–एक कर घर की सारी चीजों को बेचने के लिए मजबूर हो जाता है तब उनका बेटा कहता है : 'पापा, अखिर ऐसा क्यों हैं कि हमारी किस्मत दूसरों की मर्जी पर डिपेंड हो जाती है?... आखिर ये कारखाने क्यों बन्द हो रहे हैं?'[६] तब टेक लाल कहते हैं, 'इसका जवाब अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और अमेरिका के सिवा इस देश में किसी के पास नहीं है बेटे'।[७] बेटे की पढ़ाई बीच में छूट जाती है, टेकलाल सोचते हैं कि अपनी प्रतिभा से अशेष ने यदि इंजीनियरिंग की परीक्षा पास भी कर ली तो वह सालाना ऊँची फीस कहाँ से भर पायेंगे। यानी– 'इंजीनियरिंग की पढ़ाई गरीब के बेटे के लिए नहीं बनी है।'[८] लोकतांत्रिक व्यवस्था के इस संवैधानिक स्वरूप में जहाँ समान अवसर एवं समान दृष्टि से देखने की लिखित स्वीकृति है वहाँ आम आदमी स्वयं को कहाँ पाता है? अशेष पढ़ने से मना कर देता है : ''अब मैं कोई नौकरी नहीं करूँगा ... अब इस समाज के झाड़ झंखाड़ को साफ करने की मुहिम में मैं शामिल हो रहा हूँ। मैं एक पार्टी ज्वाइन कर रहा हूँ।''[९] बाद में पता चलता है कि टेकलाल का बेटा मानव बम बन गया है और अपनी कुर्बानी से अपने परिवार की गुरबत को मिटाना चाहता है। हालांकि यह दृश्य स्वप्न के माध्यम से रखा गया है लेकिन कहानी की परिणति यही है, जहाँ पूँजी और सफलता के विशाल साम्राज्य के समक्ष एक असहाय आदमी अपने आक्रोश को ढोता हुआ पस्त हो जाता है। 'आई०एस०ओ० ९०००' का तरुण के यह जानते हुए कि पीछे ढले हुए लोहे के तरल को ले जाने वाले लैडल में उसका मित्र संदीप गिर कर द्रव

बन चुका है, जी.एम. के आदेश पर दुर्घटना के दिन संदीप को रिकार्ड में अनुपस्थित दिखा दिया जाता है। वह कहता है : ''आई०एस०ओ० ९००० ' का विश्वस्तरीय गुणवत्ता प्रमाण पत्र हमें नहीं मिला तो हमारा बनाया हुआ माल कोई नहीं खरीदेगा''[१०] निरीक्षण के लिए आई हुई टीम को कारखाने की इस बड़ी दुर्घटना का पता नहीं होने दिया जाता है और गुणवत्ता, रख–रखाव, मानव प्रबंधन, जोखिम रहित कार्यस्थल की बनावट के लिए प्रमाण–पत्र प्रदान कर दिया जाता है। यह भूमंडलीकरण से उपजता यथार्थ है जहाँ विश्व बाजार में आपकी भागीदारी के लिए ऐसे प्रमाण पत्र जरूरी हैं। तरुण देखता है कि निरीक्षण अधिकारी ने कारखाने के बेसेल के ज्वालामुखी सदृश तापमान को विस्मय से देखते हुए पूछा, ''क्या आप बता सकते हैं कि इस्पात बनाने के लिए इसमें क्या मैटेरियल्स मिलाए जाते हैं''[११] तरुण चाहता है कि वह चीखकर जवाब दे कि ''सर यहाँ इस्पात बनाने में आयरन (अयस्क), बॉक्साइट, लाइम, सल्फर आदि के अलावा और भी बहुत कुछ, जिन्दा आदमी के खून, हड्डी, मांस और प्राण तक मिलाए जाते हैं। बहुत नायाब और स्पेशल स्टील बनता है यहाँ।''[१२] लेकिन नौकरी के खतरे उसके होंठ सिल देते हैं। केतन तरुण को समझाता है, ''भाई... दर्शन से हमारे पेट नहीं भर सकते और जिनके पेट नहीं भरे हों उनके लिए रोटी से बड़ा दर्शन कुछ नहीं है।''[१३] क्योंकि रोटी की निगरानी अब बड़ी ताकतों को सौंप दी गयी है। यह वैश्विक संसार की चरम उपलब्धि को दर्शाती है। 'प्रोटोकॉल' की 'जूसी' कारखाने के खास मेहमान और स्टील प्लांट लगाने के उद्देश्य से आये अरबी शेख की कामुक हरकतों का जब अपने ही पति से जिक्र करती है तो वह कह उठता है : 'कम आन, जूसी... शेख लोग थोड़े मनचले और ऐय्याश होते ही हैं। इसे इतना तूल देना उचित नहीं है, डार्लिंग। थोड़ी चतुराई से टेकल कर लो। नाराज हो गया तो कम्पनी के करोड़ों की आशा पर पानी फिर जायेगा। देश को भी विदेशी मुद्रा की जरूरत है... सो डोंट बी सो सेंटीमेंटल, माई स्वीट हार्ट''[१४] कारखाने का जी०एम० अपना प्रशासनिक कौशल इस्तेमाल करते हुए कहता है : ''जूसी, बी प्रैक्टिकल यार। आज हर चीज में ग्लोबलाइजेशन की हवा है... हमें अपने बिहैवियर, हैबिट्स और कल्चर को भी उसके अनुरूप ढालना होगा। यह नहीं कि सिर्फ वस्तुओं को... प्रोडक्ट्स को बेचने खरीदने से ही ग्लोबलाइजेशन और लिब्रेलाइजेशन हो जायेगा... एक मामूली से पर्सनल इशू के लिए पब्लिक इन्ट्रेस्ट की बलि मत होने दो, जूसी। तुम्हारा प्रमोशन लेटर तैयार है... ।''[१५] यह आर्थिक उदारीकरण के परिप्रेक्ष्य में बदलते सामाजिक परिवेश का समकालीन यथार्थ है। हर चीज उपभोग की वस्तु के रूप में रूपान्तरित किये जाने की मुहिम तीव्र गति से चल रही है। खरीददारों की कोई कमी नहीं है, न ही कीमत के साथ कोई समझौता, सब कुछ आपके निर्णय पर टिका है। 'अप्सरा गार्डेन' में 'रेवत बाबू का बेटा 'जतन' गाँव से आई फुआ को अपने घर के बजाए एक होटल में ठहरा देता है। क्योंकि वह जिस समाज में रहता है वहाँ की आबोहवा उसे गंवई लोगों के साथ सम्बन्ध होने को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखती। इतना ही नहीं पिता के नाराज होने पर वह उन्हें भी समझाता है, ''बाउजी इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है। आप देख रहे हैं कि फ्लैट में जगह बहुत सीमित है। अमेरिका से कल भैया का साला आने वाला है, वह एक अप्रवासी भारतीय है और इंडिया में पहली बार आ रहा है निवेश की सम्भावना तलाश करने।''[१६] रेवत

बाबू देखते है कि इस घर में कुत्ते के रहने की जगह है लेकिन उनकी बहन के लिए नहीं। आखिर जतन कह ही देता है : 'फुआ का जो हुलिया है, उसे अगर हम घर में एडजस्ट कर भी देते तो उसका प्रभाव अच्छा नहीं होता, बाउजी।''[१७] यह वर्गान्तरण की अंधी दौड़ है जहाँ हर सम्भव आदमी अपनी नस्ल सुधारने की कोशिश में लगा है। अपसंस्कृति के इस जतन रूपी भ्रूण के कई क्लोन विकसित हो चुके हैं, जिनकी खास प्रजाति की प्रजनन क्षमता सीधे सरल और आम आदमी से कई गुना अधिक है। 'ऑफिसर' का दीनू प्रसाद उर्फ दिव्य प्रकाश उर्फ डी०पी० को जीवन में प्रोमोशन, इंक्रीमेंट के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखता। इनकी जवान होती बेटियाँ स्लीबलेस पारदर्शी ब्लाउज और शार्ट स्कर्ट पहनकर जब प्रभावशाली लोगों से मिलती हैं तो डी०पी० को बुरा नहीं लगता। शहर में बहुराष्ट्रीय जींस कम्पनी द्वारा आयोजित... फैशन शो ऐण्ड कन्टेस्ट में ये लड़कियाँ फर्स्ट और सेकेण्ड हो जाती है। अखबारों में भिन्न भिन्न कोणों से ली गयी उनकी अश्लील तस्वीरें विवरण सहित छपती हैं। कुछ ही दिनों बाद वे पुन: एक लेडीज जाँघिए के प्रचार में निर्वस्त्र केवल ब्रेसियर और जाँघिए में टेलीविजन पर दिखने लगती हैं। अर्थात् लड़कियों को अपना बाजार मिल गया। सौदा मन माफिक है। कम्पनी को माल बिकने की गारंटी चाहिए और आपको अपनी नुमाईश की मुँह माँगी कीमत। कीमत और मुनाफे के बीच की चीजों पर आप ज्यादा दिमाग न लगाएं। यह उस कीमत की ही देन है कि डी०पी० की दोनों बेटियों को पुलिस ब्लू फिल्मों के निर्माण के सिलसिले में गिरफ्तार कर लेती हैं। तब डी०पी० कहता है, ''मुझे दीनू प्रसाद कहकर बुलाओ''[१८] यह अपसंस्कृति का भयावह विस्तार है जहाँ नाटकों और साहित्यिक आयोजनों में भीड़ जुटाने के लिए फ्री पास पर भी लोग नहीं आते और ब्यूटी कन्टेस्ट देखने के लिए लोग पैसे खर्च करके आते हैं। चरित्रहीनता और मर्यादा अब कोई ठोस इश्यू नही है। अफीम के नशे की तरह स्त्री पुरुष का मांसल प्रेम आम आदमी को अपनी गिरफ्त में ले चुका है। अब यह ऊब, घृणा या सेंसर का विषय नहीं रहा कि टेलीविजन के धारावाहिकों में एक पति की कई औरतों से और एक पत्नी का कई मर्दों से सम्बन्ध क्यों दिखाये जाते हैं। सम्भवत: यह महानगरीय नव अभिजात्य वर्गों के आनन्द के नये आविष्कार हैं। 'सूखते स्रोत' की विधवा सन्धिनी अपने बेटे निर्झर की शादी करना चाहती है। लेकिन निर्झर को पैसा चाहिए, हर कीमत पर, किसी भी तरह। लिहाजा वह बारह–चौदह घंटे काम करता है। वह एक मल्टीनेशनल कम्पनी में कार्यरत है। सन्धिनी को पता चलता है कि वहाँ रात में लड़कियाँ भी बुलाई जाती हैं।[१९] उन्मुक्तता का कैसा रूप है यह? कहीं अमेरिका से भी तो आगे नहीं बढ़ गए हम।[२०] एक कामकाजी लड़की से निर्झर के प्यार पर सन्धिनी को थोड़ी तसल्ली तो होती है लेकिन बड़ी मुश्किल से मिलने आई इस लड़की का हाल भी बेटे जैसा ही है। वक्त ही नहीं है। प्यार में वक्त की कमी को ये 'परफ्यूम, पर्स गॉगल्स, विदेशी मोबाइल, डिजिटल डायरी, वॉक मैन, जैसे आधुनिक और मंहगे वस्तुओं से भरने की कोशिश करते हैं। 'सन्धिनी को लगता है कि इस पीढ़ी के पास समय कम है और पैसा ज्यादा है।'[२१] अन्तत: वह बेटे से कहती है कि वह उसकी दुनिया में फिट नहीं है। ''क्यों नहीं मैं तुम्हें मुक्त कर दूँ और खुद भी अपने शापित अतीत एवं मन में ठहरे संकोच से मुक्त हो जाँऊ।''[२२] साठ पार सन्धिनी सन्मुख शर्मा के प्रति आसक्त हो उठती है, जो अभी भी उसकी

प्रतीक्षा करता रहता है। युवा पीढ़ी के समक्ष बहुदेशीय कम्पनियों के प्रभावी रोजगार के अवसर उपस्थित तो अवश्य हैं, लेकिन उससे भी अधिक प्रभावी ढंग से मनुष्य को रोबोट बनाकर नपुंसक बनाने की साजिश रची जा रही है। यकीनन इस विकल्प के साथ खड़ी युवा पीढ़ी को 'रागात्मकता' की खोज भी करनी होगी क्योंकि ''जिन्दगी आखिर अफगानिस्तान नहीं है कि उसे पहले ध्वस्त कर दें और फिर उसका नव निर्माण शुरू कर दें।''[२३] 'चीयर अप कोला ब्लूम—९६' के नवलकान्त कैलीफोनिया से एम.टेक. करने के बाद भी अपने सिद्धान्तों, उसूलों और करेक्टर के साथ भारतीयता के रंग में रंगे रहते हैं। लेकिन उन्हीं का बेटा साकेत अचानक बड़ा हो जाता है : ''कम ऑन पापा, चोंचलेबाजी को प्लीज एक महीने के लिए पोस्टपौंड कर दीजिए''।[२४] नाट्य संस्था 'संवाहिका' के बैनर का फैशन शो के लिए इस्तेमाल पर नवलकांत स्वीकृति देते असमंजस में तो हैं लेकिन बेटे का सघन आत्मविश्वास और 'मेटेरियलिस्टिक एप्रोच' संवाहिका के सदस्यों को स्वीकृति के लिए बाध्य कर देते हैं : 'प्लीज लेट मी हैव ए चांस टू परफार्म द फैशन शो... यू नो... आप खुद ही समझ लेंगे कि आप लोग कहाँ है।[२५] और एक दिन साकेत अपने निर्णय को पिता के सामने रख देता है कि वह अपना कैरियर टेलीविजन में बनाएगा। 'खुद को तपाकर, साधकर, रगड़ कर, मार कर 'डॉक्टर', 'इंजीनियर' आइएएस, आइपीएस भी बना लो तो ईमानदार रहकर यह ठाठ, शानो शौकत और कद्र कहाँ। टी०वी० पर आने के लिए इन लफड़ों की कोई जरूरत नहीं।[२६] यदि अपने उत्पाद बेचने की कला आप में है तो घटिया और स्तरहीन सामग्री को भी नये रैपर में पेश करने का स्थाई साधन टेलीविजन है। विज्ञापनों की अधिकता ने कार्यक्रम निर्माताओं की आर्थिक चिन्ता को भी निर्मूल कर दिया है। यानी आम आदमी के सस्ते रुझान को समझिए और अपना कूड़ा उनके सामने परफ्यूम मिलाकर परोस दीजिए। भला आम आदमी जाएगा कहाँ। वैसे थोड़ा ठहरकर सोचिए यह आम आदमी है कौन? आम आदमी यानी हमारी पूरी सभ्यता का संवाहक हम ही तो हैं। 'धोखा' का पोखन इम्तहान देते देते थक गया है। वह अब और इम्तहान नहीं देगा। 'कौन बनेगा करोड़पति' पर वह एकाग्र होना चाहता है। वह जी जान से तैयारी करता है। प्रेमिका नीरा कहती है : ''यह करोड़पति कार्यक्रम एक सब्जबागी खेल है बाजार और पूंजी का। यह व्यावसायिक धूर्तता से परिपूर्ण एक मानसिक विलास है।''[२७] पिता कहते हैं : ''यह खेल जवान हो रही पीढ़ी को निकम्मा और मुफ्तखोर बनाने की एक गहरी साजिश है, धोखा है।''[२८] पोखन जब मुम्बई में फास्टेस्ट फिंगर फर्स्ट में हारकर वापस शहर आता है, तब तक उसके पिता दिवंगत हो चुके होते हैं। नीरा लाश को शवगृह में रखकर पोखन के लिए संदेश लिख जाती है कि 'जो अपने मरणासन्न पिता तक को छोड़कर चला जा सकता है वह कल किसी को भी छोड़ सकता है।'[२९] मानवीय मूल्यों के इस गिरावट की तह में लुभावने सपने हैं। इन सपनों को देखने या न देखने की स्वतन्त्रता भी आपकी नहीं है। बढ़ते सूचना स्रोतों और दृश्य मीडिया के विस्तार ने पहले ही आपकी निजता को संक्रमित कर दिया है। अर्थात आप आखें बन्द कर तटस्थ नहीं रह सकते हैं। 'पेटू' में दरबारी प्रसाद के बेटे दुक्खन और भुक्खन पिता के कई बार कहने पर भी फुआ की किडनी के ऑपरेशन के लिए पांच हजार नहीं भेजते हैं, लेकिन ''वे अपने घर में बिना फटे ही पुराने पर्दे बदलवा देते हैं, बिना किसी खराबी के पुराने टी०वी० और ऑडियो

सिस्टम एक्सचेंज कर दिये जाते हैं, माइक्रोवेव ओवन... वैक्यूम क्लीनर... टेलीफोन इन्स्ट्रूमेंट के ठीक—ठाक रहते हुए भी कार्डलेस उपकरण आ जाते हैं, बिना आवश्यकता के तीसरी मोटर साइकिल खरीद ली जाती है।''[३०] अर्थात् अभाव नहीं है, लेकिन फुआ के लिए पाँच हजार की जगह एक हजार का मनीआर्डर दरबारी प्रसाद के लिए प्रश्न खड़ा करता है। पता चलता है कि ये सारी सुविधाएं बेटों ने स्वयं को स्मार्ट और आधुनिक बनाए रखने के लिए विभिन्न ऋण स्रोतों, किश्त भुगतान प्रणाली और क्रेडिट कार्ड के इस्तेमाल से प्राप्त किए हैं। यह बाजार का तिलिस्म है। आय में क्रय शक्ति न भी हो तो बाजार में कर्ज देने वाली एजेंसियां उपलब्ध हैं, जो अदृश्य तौर पर अपने लुभावने स्कीम में फंसाकर विलासिता के उपकरण आपके घर डिलेवरी करा देती हैं। फिर शुरू होता है शर्तों के अनुरूप माहवार किश्तों की अदायगी। आम आदमी महीने के आखिरी दिन जब अपनी तनख्वाह की बची—खुची राशि लेकर घर आता है तो साथ में चिन्ता, परेशानी, घर चलाने की कसक और खोखली हंसी भी साथ लेकर आता है। 'मल्टी परपस सर्विसेज' की प्रेरणा जब मैके से वापस आती है तब ''बिल फॉर फ्यूनरल प्रोसेशन' देखकर दंग रह जाती है कि माँ के मरने की खबर भी उसे एक बाहरी एजेंसी से मिल रही है। दूसरी ओर माँ के मरने के दिन टेलीविजन पर भारत या पाकिस्तान का क्रिकेट मैच चल रहा होता है। अभिराम केडिया द्वारा मुहल्ले वालों को सूचित करने के बाद भी केवल दो—तीन आदमी आते हैं। केडिया को इसका दुःख नहीं होता। पिछले चार वर्षों में वह भी किसी की शव यात्रा या संस्कार में शामिल नहीं हुआ था। इसलिए केडिया उम्मीद भी नहीं करता। वह मल्टीपरपस सर्विसेज नामक एक एजेंसी को फोन करता है। आधे घंटे में दस—बारह लड़के आ जाते हैं और माँ की अर्थी लेकर चल पड़ते हैं। शव जलाने की दोनों विधियाँ हैं, लकड़ी का भी प्रबन्ध है और विद्युत शवदाह गृह भी है। केडिया गुणा भाग करता है और आधे पौने घंटे में ही निपट जाने वाली विद्युत शवदाह प्रक्रिया को प्राथमिकता देता है। 'अस्थि भष्म' को डिब्बे में डालकर वह एजेंसी के लड़कों को चार प्रमुख नदियों में विसर्जित करने के निर्देश के साथ सुपुर्द कर देता है।[३१] यह अपसंस्कृति का चौकाने वाला ही नहीं अपितु घृणित और बदबूदार चेहरा है जो हमारे सामने खड़ा ढीठ हंसी हंस रहा है। हमारे असहाय होने का रहस्य शायद उसे पता है।

कथाकार जयनंदन उपभोक्तावादी संस्कृति में शहरी महानगरीय जीवन के उथल—पुथल से गुजरते हुए समय के संक्रमण को पकड़ने की पुरजोर कोशिश करते हैं। उपरोक्त कहानियों के माध्यम से कथाकार जयनंदन अपसंस्कृति के खिलाफ खड़े ही नहीं दिखते अपितु संघर्षरत आम आदमी की चेतना को भी धार देते हैं। साम्राज्यवाद की पुनर्व्याख्या को वे चिन्ता का कारण तो अवश्य मानते हैं किन्तु अपनी अस्मिता को बचाये रखने का माद्दा भी बनाये रखने की अपील करते हैं। यही कारण है कि जूसी के माध्यम से वे कहते हैं कि ''इज्जत आबरू और संस्कृति का लिब्रेलाईजेशन नहीं होता... विदेशी मुद्रा से बड़ी है ये चीजें।''[३२] स्पष्टतः कहा जा सकता है कि भविष्य के आसन्न खतरों के बीच जयनंदन आशा और विश्वास की मशाल लिए हमारे जीवन की सांस्कृतिक विरासत को बचाये रखने के प्रति सतत सृजनरत हैं।

सन्दर्भ :
१.विश्व बाजार का ऊँट, पृ. १२
२.वही, पृ. १७
३.वही, पृ. १७
४.वही, पृ. २३
५.वही, पृ. ३१
६.वही, पृ. ३१
७.घर फूँक तमाशा–कथा संग्रह, पृ. २
८.वही, पृ. ६
९.वही, पृ. ७
१०.वही, पृ. १५
११.वही, पृ. २१
१२.वही, पृ. २१/२२
१३.वही, पृ. २३
१४.वही, पृ. ७९
१५.वही, पृ. ७९
१६.गुहार–कथा संग्रह, पृ. २९
१७.वही, पृ. २९
१८.घर फूँक तमाशा–कथा संग्रह, पृ. १४१
१९.सूखते स्रोत–कथा संग्रह, पृ. १७
२०.वही, पृ. १७
२१.वही, पृ. २०
२२.वही, पृ. २५
२३.वही, पृ. २४
२४.विश्व बाजार का ऊँट–कथा संग्रह, पृ. १३५
२५.घर फूँक तमाशा–कथा संग्रह, पृ. १३५
२६.वही, पृ. १३५
२७.सूखते स्रोत–कथा संग्रह पृ. ७१
२८.सूखते स्रोत–कथा संग्रह पृ. ७१
२९.वही, पृ. ७७
३०.घर फूँक तमाशा–कथा संग्रह, पृ. २८
३१.वही, पृ. १३५
३२.वही, पृ. ८०

•••

आलोचना:

शोषणमुक्त वर्णविहीन समाज की परिकल्पना

***धर्मेन्द्र कुमार सिंह**

अमृतलाल नागर कृत 'नाच्यौ बहुत गोपाल' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। यह उपन्यास उन गिने–चुने उपन्यासों में से एक है जो शूद्रों में अतिशूद्र मेहतर जाति की व्यथा–कथा से जुड़ा हुआ है। मेहतर बनने की उत्तरदायी परिस्थितियों की पड़ताल आलोच्य उपन्यास में बखूबी नायिका निर्गुनिया के माध्यम से उपन्यासकार ने किया है। अक्सर जब दलित साहित्य एवं साहित्यकार की चर्चा होती है तो इस कृति की मूल संवेदना को दरकिनार कर एक गैर–दलित द्वारा लिखा गया कह कर तथाकथित जन्मना दलित साहित्यकारों द्वारा खारिज कर दिया जाता है, जो कि दलित जन एवं दलित साहित्य के लिए शुभ नहीं है। नाच्यौ बहुत गोपाल अपने मूल कथ्य में, सन्दर्भों में, प्रस्तुतीकरण में लेखक की सर्जनात्मक प्रतिभा का वह अमूल्य दस्तावेज है जो आधुनिक हिन्दी दलित–उपन्यास के यथार्थ की बंधी–बंधाई परिभाषाओं और सरणियों से कहीं आगे ले जाकर विघटित होते हुए उन मानदंडो के क्षेत्र में ले जाता है जहाँ वर्जनाएँ और कुंठाएं नया जन्म पाने को अकुला रहीं हैं। मानव जीवन का यह यथार्थ सतही जिजीविषा और अभिजात्य आस्था की दुन्दुभियों को नकार कर सच्चे अर्थों में दलित साहित्य का दायित्व निभाना चाहता है। प्रेम, राग, सामाजिक रूढ़ियों, नारी–पुरुष सम्बन्ध, पीढ़ी–भेद, जैसे– महानगरीय सभ्यता के पुरस्कार स्वरूप मिले हुए यथार्थ के अंकन के भूल–भुलैया में भटकने वाले आधुनिक साहित्याकारों के लिए यह औपन्यासिक यथार्थ मार्गदर्शन का एक दीप स्तंभ है। नागर जी की लेखकीय संवेदना का चरमतम यथार्थ है, जहां वह अपने जन्मगत पारंपरिक ब्राह्मणत्व की बंधी बंधाई जंजीरों को तोड़ कर केवल एक मानव है और मानवता का तकाजा लिए हुए जब वह दलित वर्ग के अंतरंग संसार में प्रवेश करता है तो वह साहित्यकार प्रणम्य हो जाता है। आम आदमी की वह चिरंतन मूर्ति जो तुलसीदास ने शबरी और केवट के माध्यम से राम की महिमा–गान के लिए गढ़ी थी, आज वह नये सिरे से उस आम आदमी की पीड़ा स्वयं मानवता का जयगान करने के लिए प्रतिष्ठित हो गई है। नागर जी ने भंगी जीवन की नारकीय वास्तविकताओं को एक नए आयाम से जोड़कर उसे तल्ख बना दिया है। भंगी जाति की एक ऐतिहासिक वास्तविकता यह भी है कि युद्धों में विजयी जातियों ने पराजित जातियों को भंगी कर्म करने को विवश किया था। इस विवशताजन्य नारकीय अनुभव के अंकन के लिए नागर जी ने निर्गुनिया की कथा कल्पित की है। निर्गुनिया जन्मना ब्राह्मण कन्या होकर भी सामाजिक–पारिवारिक स्थितियों तथा अपनी दुर्दमनीय काम भावना के कारण एक भंगी युवक से प्रेम कर बैठती है और उसके संग भाग जाती है। इसके बाद उसके ब्राह्मण से भंगी बनने में रूपांतरण तथा सामाजिक

*शोधार्थी : हिन्दी विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, गचीबोवली, हैदराबाद, मो. 08500862651

शोषण और अपमान की जिस प्रक्रिया तथा परिणति का साक्षात्कार होता है वह अत्यंत वीभत्स और अमानवीय है, जिससे गुजरना पाठक के लिए एक बिल्कुल नया अनुभव है। स्थूल रूप में 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की कथा को दो रूपों में देखा जा सकता है— पूर्व कथा तथा उत्तर कथा। पूर्व कथा के अंतर्गत निर्गुनिया के मेहतर मोहना के संपर्क में आने की कथा चित्रित है। इस कथा में निर्गुनिया के नाना के घर का सांस्कारिक वातावरण, सेठ—सेठानी (बटुक प्रसाद, वृजरानी देवी) का सामंती वातावरण जहाँ सारा का सारा परिवार विलासिता की आंच में जल रहा था, निर्गुण के विवाह आदि का वर्णन है। उत्तरकथा के अंतर्गत निर्गुनिया का मोहना के संग भागने के बाद की घटना की कारुणिक कथा प्रस्तुत की गई है। निर्गुण अर्थात निर्गुनिया देवी नामक ब्राह्मणी ही समूचे उपन्यास के केंद्र में है जो संस्कारी नाना—नानी के घर बारह वर्ष (बचपन) बिताकर भी अपने यौवन के पहले एहसास में ही नैतिकता के कच्चे धागों को तोड़ बैठती है। लम्पट पिता द्वारा सौंप दी गई निर्गुण का हवेली के सेठ—सेठानी सहित अन्य की रंगरेलियों में किशोर सौंदर्य मलिन हो जाता है। उसे एक वृद्ध मुसरियादीन के गले मढ़ दिया जाता है। लगता है सारा पुरुष—समाज अपनी स्वछन्द वृत्तियों और कामवासना की लपटों से घिरा हुआ है। किशोर पत्नी पहरेदारी, तालाबंदी, वैवाहिक अनमेलपन, नैसर्गिक कामनाओं की होली में स्वयं जलने लगती है और वह घर के पिछवाड़े से युवा मेहतर के साथ भाग जाती है। वर्ण—व्यवस्था की खोखली दीवारों को पहला धक्का यहीं लगता है और फिर शुरू होती है निर्गुण की 'देवालय से शौचालय' की दुखद यात्रा। नागर जी ने निर्गुण के ब्राह्मण संस्कारों को जलाकर मेहतरानी बनने के अंतर्द्वन्द्व को पूरी सच्चाई और ईमानदारी तथा मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। दलित समाज के एक बहुत बड़े कालखंड को व्यापक कैनवॉस पर समेटते हुए लेखक ने स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर दोनों परिस्थितियों को स्पष्ट किया है। अमृतलाल नागर हिन्दी साहित्य के ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने जीवन की अभिव्यक्ति को अपने लेखन का विषय बनाया और एक चली आती हुई परम्परा को बदलकर नई परम्परा का सूत्रपात किया। उनका लेखन शोषित—पीड़ित समाज का पक्षधर है और उनकी यह पक्षधरता वर्ण—व्यवस्था के स्थान पर वर्णविहीन समाज व्यस्था को स्वीकार करती है। उनकी यह दृष्टि सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का खुलासा करती है और सामन्ती तथा पूंजीवादी प्रवृत्तियों का विरोध करती है। दलित जन के विकास के सन्दर्भ में नागर जी ने अपनी इस कृति के माध्यम से जो कार्य किया है, उसे खारिज नहीं किया जा सकता है। आज इस कृति और नागर जी की दलित जीवन की समझ को लेकर तरह—तरह की बातें की गईं और की जा रही हैं। 'नाम कमाने' तथा 'सांप्रदायिक उद्देश्यों की पूर्ति' के लिए लिखा गया साहित्य कहकर आरोप लगाया जाता है जो किसी भी तरह से स्वीकार्य नहीं है। उनका यह लेखन खुद बोलता है। नागर जी ने हिन्दू जाति व्यवस्था के अभिशाप को देखा था। ऐसी हिन्दू जाति ने वर्ण व्यवस्था के शोषकवादी चरित्र ने, उसके कर्मकाण्डी स्वरूप ने दलित चेतना को विकसित होने का अवसर दिया। इस उपन्यास में हिन्दू समाज की अनेक बुराईयों और विकृतियों की उन्होंने कटु आलोचना की है। धर्म के पाखंड का उद्घाटन आर्य समाजी संन्यासी स्वामी वेदप्रकाशनन्द जी शास्त्र—सम्मत परम्परागत शोषण को नकारती हैं। पिछले हजार वर्षों से दलित शोषित और समाज

के वेद मन्दिर एवं उससे सम्बंधित कार्यों के रूप में किया गया है। उपन्यास की मूल संवेदना स्वातंत्र्य की है और उसके प्रतीक बनाए गये हैं मेहतर और नारी। उपन्यासकार ने नायिका निर्गुण या निर्गुनिया के माध्यम से इस ओर संकेत किया है : ''आजादी—सुतंत्रता का वरण ही उत्तम है। मैंने तो नसीब की मार से मेहतरानी बनके ये सीखा बाबू जी की दुनिया में दो पुराने से पुराने गुलाम हैं—एक भंगी और दूसरी औरत। जब तक ये गुलाम हैं आपकी आजादी रूपये में सौ के सौ नये पैसे भर झूठी है।''[१] उपन्यास का अंत एक तरह से आशावाद से होता है। निर्गुनियां आत्मविश्वास से भरे स्वर में कहती है कि : ''मेहतरों की समस्याएं हल होगी और जमाना बदलकर रहेगा।''[२] इस उपन्यास में मेहतरों की समस्याओं— नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक समस्याओं को तो उभारा ही गया है साथ ही उनके मूल में स्थित आर्थिक समस्याओं पर भी बार—बार प्रकाश डाला गया है। महाजन के ब्याज, जमादार की दस्तूरी और उधार खाते की रकम देने के बाद मेहतरों के पास इतना भी नहीं बचता है कि सारे परिवार को जहर खिला सकें। मेहतर के जीवन का विश्लेषण जो उन्हीं में से एक द्वारा किया गया है वह जितना सच है उतना ही करुण : ''मेहतर साला तो करज में ही जनमता है और करज में ही मरता है। आज एक तो कल दूसरा महाजन नटई दबाएगा, मरना तो है ही।''[३] नागर जी के इस उपन्यास में दलित नायक मोहन, निर्गुण मोहन तथा पुत्रवधू नीलम के संवाद में जिस तरह के दलित विमर्श के उग्र तेवर और जातीय स्वाभिमान तथा अस्मिता की प्रतिष्ठा दिखलाई देती है, आज का दलित लेखन भी कुछ ऐसी ही मांग करता दिखता है। दलित साहित्य की विद्वान रमणिका गुप्ता ने आह्वान किया है कि 'आज हिन्दी पट्टी के दलित साहित्य को उसी बर्बरता के मुकाबले खड़े होने कि जरूरत है जिसके लिए केवल बचाव नहीं 'हमले' की रणनीति की दरकार होती है। हिन्दी दलित साहित्य उस मुहिम की ओर अग्रसर है, यह शुभ है। इसे लोग 'प्रतिशोध', 'बदला' या अलगाव अनेक नाम देते हैं, पर यह बराबरी की मुहिम का अस्त्र है। इसे खुद को एसर्ट करने का तरीका भी कहा जा सकता है। इसके बिना सदियों से सेवा लेने के आदी भारतीय मानसिकता पर रोक नहीं लगाई जा सकती। उसे एक झटका देकर ही रोका जा सकता है। सरपट दौड़ते शोषण के घोड़े की लगाम थामने के लिए रास्ता अवरूद्ध करना जरुरी है ताकि वह मुँह के बल गिरे या फिर उठे ही नहीं, अन्यथा रुक जाय। दूसरा तरीका जो बिना कटुता और टकराव के संभव है, वह सवर्णों के पहल पर निर्भर करता है। सवर्ण अभिजात, जिसके पास जाति है और जाति होने का दंभ है, वे अपनी जाति छोड़ें। अपने पैडेस्टल से नीचे उतर कर दलितों को, जो जाति के दायरे से बाहर हैं, गले लगायें, उन्हें नेतृत्व सौपें और अपने पूर्वजों द्वारा किये गये अत्याचार के लिए शर्मशार हों।''[४] नि:संदेह कहा जा सकता है कि रमणिका गुप्ता जी द्वारा सुझाये सारे तेवर और मिजाज उक्त उपन्यास में मौजूद है। यह उन तथाकथित जन्मना दलित साहित्यकारों की संकीर्ण मानसकिता का परिचायक कहा जायेगा कि इस उपन्यास को दलित साहित्य में सम्मिलित नहीं करना चाहते हैं केवल इसलिए कि यह गैर—दलित साहित्यकार द्वारा लिखा गया है। इस उपन्यास में वह सारी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जो भाग्य, पूर्वजन्म का फल, पुरानी परम्पराएं, विकृत रूढ़ियों, उच्च जातियों के अहम्, दंभ तथा स्वार्थ को महिमामंडित करती हुई उनकी गौरव गाथाएं, से

बहिष्कृत, शिक्षा से वंचित, सत्ता से बाहर आर्थिक समृद्धि के अयोग्य बना दिए गये अधिकार विहीन, पशुवत जिन्दगी जी रहे जड़, मृतप्राय मनुष्य को मनुष्यता का एहसास करवा कर उनमें आत्मसम्मान और स्वाभिमान भरता है। उसे शिक्षित, संघर्षरत एवं संगठित करना, सदियों से भोगी पीड़ा, भोगे हुए सच को दस्तावेजी रूप देना और दलित समाज के भीतर के अंतर्विरोधों को दूर करने के लिए बहस चलाना स्वीकार पक्ष के तहत दृष्टिगत होती है, जिसके आधार पर आज के दलित साहित्य का मूल्यांकन होता है। डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में लिखा है कि ''दलित चेतना डॉ. अम्बेडकर के जीवन दर्शन से मुख्य ऊर्जा ग्रहण करती है।... दलित चेतना के प्रमुख बिन्दु हैं— मुक्ति और स्वतंत्रता के सवालों पर डॉ. अम्बेडकर के दर्शन को स्वीकार करना, वर्ण—व्यवस्था विरोध, जातिभेद—विरोध, साम्प्रदायिकता विरोध, अलगाववाद नहीं भाईचारे का समर्थन, सामाजिक न्याय की पक्षधरता, वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता आदि।''[५] यदि निष्पक्ष तरीके से और संकीर्ण विचारों का त्याग करके देखा जाये तो आलोच्य उपन्यास में आये पात्र— निर्गुनियां, मोहना, निर्गुण मोहन, अन्शुध ार शर्मा, मसीता, गुल्लन आदि की चारित्रिक घटनाओं के माध्यम से नागर जी इन सभी बिन्दुओं के प्रति संकल्पनिष्ठ हैं। यह कहना कि 'नाच्यौ बहुत गोपाल' केवल दलितों के सम्मान, प्रतिष्ठा और अस्मिता तक ही सीमित है और उनके विकास के अन्य पहलुओं को नजरअंदाज करता है, गलत है। उपन्यासकार उसके सर्वांगीण विकास की बात करता है। जब वह बाकी सवर्ण समाज के साथ जो विकसित है, अविकसित दलितों की समानता की बात करते हैं तो वह सामाजिकता के साथ—साथ उसके आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों को भी जोड़ते हैं।

यह सही है कि दलितों कि सामाजिक असमानता ही उनकी आर्थिक गरीबी और राजनितिक उपेक्षा का कारण है। इसलिए वह समानता का अर्थ सामाजिक समानता को मानते हैं और उसे आर्थिक—राजनीतिक समानता तक ले जाने के आकांक्षी हैं। दलितों की प्रतिष्ठा, सम्मान और अस्मिता, शिक्षा, संघर्ष और संगठन अप्पो दीपो भवः, वैज्ञानिक, तार्किक सोच आदि सब मुद्दे मनुष्यता कि जरूरी शर्तें हैं, जिन्हें 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में साहित्यकार ने उठाया है। सवर्ण अथवा दलित समाज में व्याप्त सामंती अवशेषों को, दोहरी मानसिकता, श्रेष्ठता का दंभ और कठमुल्लापन या कट्टरता तथा जातीय और धार्मिक विभेदों को खत्म करने के लिए वह समाज को 'डी—क्लास' करने के साथ—साथ 'डी—कास्ट' करना भी जरुरी समझता है। नागर जी इस उपन्यास में क्लास के साथ—साथ एक साथ खाने—पीने, उठने—बैठने की लड़ाई भी लड़ना आवश्यक मानते हैं। बहुजन समाज के बहुमुखी विकास, बहुजन समाज की समानता, प्रतिष्ठा, स्वाभिमान और अस्मिता का निर्माण कर उसके लिए आर्थिक समानता और राजनीतिक भागीदारी भी सुनिश्चित करने का आग्रह रखते हैं। नागर जी डॉ. अम्बेडकर के विचारों के अनुरूप सभी के साथ भाईचारे का रिश्ता विकसित करने के इच्छुक हैं। उपन्यास में 'नरेटर' की भूमिका में स्थित अन्शुधर शर्मा इस बात के प्रमाण हैं। इस उपन्यास में अम्बेडकर का जीवन दर्शन ही अन्शुधर शर्मा को सवर्णता के पैडेस्टल से नीचे उतरने की प्रेरणा देता है। दलितों को न्याय और स्वतन्त्रता देने का हिमायती बनाता है। अंततः एक लंबे आत्मसंघर्ष के बाद वे आचरण में परिवर्तन लाते

हैं। यह सवर्णता से अवर्णता की ओर उन्मुख होने का परिचायक है। अगर अन्शुधर शर्मा का संस्कार ब्राह्मणवादी होता तो शायद ही निर्गुनियां देवी (मेहतर) उनके ठाकुरद्वारे में प्रवेश पाती और इस बहाने उपन्यासकार अन्य छद्मवेषी उच्च जातियों का पतन दिखाते। इसमें नागर जी की चिरंतन आस्था, जिजीविषा और मानवीयता अधिक प्रखरता से जाह्नवी की पवन जलधारा के समान प्रवाहमान है। निश्चय ही यह कृति अपने शीर्षक को सार्थक करती हुई सदियों से चले आये एक वर्ग की, उसकी व्यवस्था के भीतर तक चीरने वाली पीड़ा का ही मुखर—प्रखर विरोध है। एक तरह से देखा जाये तो तथाकथित जन्मना दलित साहित्यकारों तथा आलोच्य उपन्यास से पूर्व में लिखित गैर—दलितों के साहित्य में वर्णविहीन समाज की चर्चा उस रूप में नहीं की गई है जिस रूप में 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में की गई है। उनके एजेंडा में यह परिकल्पना कमजोर रूप में मौजूद है। अमृतलाल नागर जी वर्णविहीन समाज की पक्षधरता व्यक्त करते हैं और मानते हैं कि तभी असली मायनों में दलितों की स्वतन्त्रता, आत्मप्रतिष्ठा, सामाजिक सम्मान और एकता का अधि िकार मिल सकेगा जब सवर्ण समाज वर्ण और जाति की संकीर्णताओं से बाहर निकलेगा। लेखक वर्णविहीन समाज के प्रति आशावान है : ''पिछले पच्चास वर्षों के जीवन क्रम को देखते हुए मुझे लगता है कि आज से सौ बरस बाद हिन्दुस्तान में शायद जाति—वर्ण—व्यवस्था बिल्कुल ही खत्म हो चुकी होगी।''[६] अभी दलित साहित्य को अनेक चुनौतियों का सामना कर क्षेत्र विस्तार करना है। आज साहित्यिक मंच राजनीतिक अखाड़े बन गये हैं। इस अखाड़ेबाज साहित्यकारनुमा राजनीतिज्ञों से बचते हुए दलित साहित्य को आगे बढ़ाना है। दलित साहित्य चूँकि भारत की दलित जनता में जागरण का शंखनाद कर रहा है, इसमें सत्ता के समीकरण बदलते हुए प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए दलित जन में आत्मविश्वास भरने वाले साहित्य अर्थात दलित साहित्य की समृद्धि के लिए नाकेबंदी की विचारधारा को त्याग कर— 'राख ही जानती है, जलने का दर्द', 'दलितों के द्वारा दलितों के लिए लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है' इत्यादि जुमलेदार वक्तव्यों को ताख़ पर रखना होगा। उन सभी दलित एवं गैर—दलित साहित्यकारों द्वारा रचित कृतियों का खुले दिल से स्वागत करना होगा, जो दलितों में आत्मसम्मान भरने, उनको शिक्षित—संगठित करने के साथ—साथ सवर्णों से अपने अधिकारों को प्राप्त करने का आह्वान करती हों, तभी हम 'इक्कीसवीं सदी दलितों की सदी होगी' के स्वप्न को पूरा कर सकेंगे।

सन्दर्भ :

१.नाच्यौ बहुत गोपाल : अमृतलाल नागर, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण २०००, पृ. ३४३
२.वही, पृ. ३४०
३.वही, पृ. २१९
४.वर्तमान साहित्य, नवम्बर १९९९, दलित साहित्य और हिन्दी जगत : रमणिका गुप्ता
५.दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण २००१, पृ. ३१
६. नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. ३१७

•••

समकालीनता का स्वरूप और हिन्दी कविता का सामान्य संकट

***राकेश कुमार सिंह**

आमतौर पर मानव जीवन में उसके समय, परिवेश और समाज की संरचना के किसी भी स्तर पर जब नितांत नई वस्तु, परिस्थिति या गतिविधि का प्रादुर्भाव होता है तो उसे तत्कालीन समय, परिवेश और समाज के सापेक्ष तात्कालिक रूप में सतही, समाज के प्रचलित जन–जीवन के बोध से विच्छिन्न और विरूद्ध माना जाता है। शायद यही कारण है कि हम अपने समकालीन बदलाव के प्रति प्रतिबद्धता महसूस नहीं कर पाते। इसी वजह से समसामयिक समस्याओं को भी जब तक हम युग–युग की समस्या का रूप नहीं दे लेते तब तक हमें संतोष नहीं होता। हम अस्वीकार करते हैं कि हम एक चिरन्तन गतिशील समसामयिक जगत में रहते हैं जहाँ परिवर्तन का क्रम न केवल नयी दिशाएं, नये संकेत देता है, बल्कि पहले के पूछे गये प्रश्नों को फिर से पूछने के लिए बाध्य करता है। हम नहीं मानते हैं कि हर नया गवाह न केवल नये विवाद प्रस्तुत करता है, बल्कि पुराने विवादों के संबंध में हमारे निर्णयों को भी चुनौती देता है।[१] समकालीनता से संबंधित इन संवेदनशील एवं नैतिक दायित्वों के प्रति हमारा प्रामाणिक परंपरावादी जैसा उक्त रवैया हमें अपने समय के पीछे ही चलने पर मजबूर कर सकता है न कि अपने समय में संलिप्त होने का स्पेस देकर, जीवन की समग्रता, तात्कालिकता एवं आग्रह को सक्रिय रूप में महसूस करने का जीवन्त अहसास देता है। समकालीनता को हम किस रूप में देखें? यह प्रश्न जीवंत और ज्वलंत रूप में, एक असुविधाजनक चुनौती के साथ, हमें सोचने को मजबूर करता है। समकालीनता जहाँ रघुवीर सहाय के लिए 'मानव भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है तो विजेंद्र के यहाँ जनतंत्र में यह सर्वहारा की शक्ति को स्वीकारने के संकेत के रूप में है। वहीं विनोद कुमार शुक्ल समकालीनता को घड़ी की चाल से बद्ध नहीं मानते क्योंकि उनके लिए 'घड़ी देखना समय देखना नहीं होता।' यह राजेश जोशी की दृष्टि में अर्जित की गई ऐसी प्रवृत्ति की तरह है जिसमें सतत् प्रक्रिया और प्रविधि दोनों ही शामिल हैं। इससे अलग अरुण कमल के लिए समकालीनता 'रचना में व्यक्त उस काल के जीवन का अनूठापन है जो नितांत समसामयिकता के भाव को अपने अंदर समोए हुए हैं।'

समकालीनता से जुड़े ये मत कहीं इसे विचारधारात्मक प्रतिबद्धता एवं राजनीतिक सरोकारों से जोड़ते हैं तो कहीं अपने समग्र समय से आत्मसंघर्ष के द्वारा अर्जित प्रवृत्ति से या नितांत समसामयिकता से संपृक्त अनुभवगत अद्वितीयता से। ये तमाम मत समकालीनता के आकलन की भिन्न–भिन्न दृष्टि निर्मित करते हैं। इन भिन्न–भिन्न दृष्टियों में रचनाकारों की

*शोध छात्र : हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद, मो. 09493405803

'अस्मिता सजगता' का स्वभाव व्यक्त हुआ है, जिससे यही साबित होता है कि समकालीनता न तो किसी निश्चित प्रवृत्ति का आधार ग्रहण करती है और न ही किसी विचारधारा की धारा के प्रतिबद्ध प्रवाह में बहती नजर आती है। इस आधार पर हम इसकी कोई कॉमन केमिस्ट्री नहीं निर्मित कर सकते हैं, लेकिन इसे अपने वर्तमान के साथ संपृक्त एवं समन्वित जीवन्त अहसास के रूप में महसूस कर सकते हैं। समकालीनता के स्वरूप के प्रति ये दृष्टिकोण हमें अपने सामयिक जीवन जगत की प्रवृत्ति बहुलता को समझने की सुविधा प्रदान करते हैं वहीं उसकी सतत प्रक्रिया और प्रविधि को अर्जित करते रहने में आई चूक हमारी अभिव्यक्ति की प्रासंगिकता को संकट में डाल देती है। समकालीनता की सुविधा के साथ संपृक्त यह संकट कहीं न कहीं हिंदी कविता के संकट के साथ भी जुड़ा हुआ है। हर कविता इंद्रिय अनुभव पर आधारित अनुभूति में विलयित होने के बाद ही संभव हो पाती है, जिसमें कवि के बाहर–भीतर के द्वन्द्व सर्वथा समकालीन दबाव के रूप में निरूपित होते हैं। आज कविता के सामने सबसे अहम् संकट इस बाहरी–भीतरी द्वन्द्व को कवि द्वारा बोध के स्तर पर संयोजित न कर पाने की वजह से उत्पन्न हुआ है। यह संकट जितना भीतरी नहीं उतना बाहरी है क्योंकि 'कविता के बाहर बिंबों का जमघट लगा है। इन बिंबों को कविता ने नहीं रचा है। ऐसी किसी कला ने नहीं जिसके साथ कविता अपना अन्तर्संबंध तलाश सके।'[२] इसी के चलते कविता से अब बिंब का अन्तर्संबंध बिंब के विपर्यय के रूप में उसकी आधारभूत संरचना को प्रभावित कर रहा है। कारण यह है कि ये बिंब सहज मानवीय प्रवृत्ति के अन्तर्संबंध की संवेदना पर आधारित वास्तविक यथार्थ से अलग संचार माध्यमों और मार्केट द्वारा निर्मित आधारहीन आभासी यथार्थ की उपज हैं। इस तरह वास्तविकता, डिजिटल वास्तविकता द्वारा प्रतिस्थापित होती जा रही है। इससे 'वर्तमान और आने वाले समय की कविता का एक बड़ा संकट इस आभासी वास्तविकता के बरअक्स वास्तविकता को रचने का ही नहीं इसे आभासी वास्तविकता के बरअक्स अधिक विश्वसनीय बनाने का भी है।'[३] आज जिस समय और समाज को हम महसूस कर रहे हैं उसमें तकनीकि, राजनीति और पूंजी का हस्तक्षेप इतना बढ़ गया है कि हमारी स्वचेतना इनकी प्रभाव क्षमता से अछूती नहीं रह गई है। उनके द्वारा हमारे विजन और सार्वजनिक सुविधाओं का विस्तार हो रहा है, ऐसा एक स्तर पर उनके द्वारा निर्मित की गई अभिव्यक्तियों एवं परिस्थितियों के चलते हमें महसूस होता है, लेकिन जैसे ही हम अपनी सामाजिक–संरचना के तत्कालीन स्वरूप के सरोकारों से परिचित होते हैं तो दिग्भ्रम की स्थिति हमारे सामने उपस्थित हो जाती है क्योंकि एक साथ हमारा समाज आदिकालीन, आधुनिक कालीन और उत्तर आधुनिककालीन स्तरों में बंटा हुआ है। तकनीकि, राजनीति और पूंजी का रिमिक्स उत्तर आधुनिककालीन विकास के मॉडल पर हमारे समग्र सामयिक सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों का मूल्यांकन प्रस्तुत कर रहा है। ये सब पूंजी संकेन्द्रण पर आधारित एकाधिकारवाद एवं वि–उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है जिसके द्वारा हमारे विजन को विखण्डित एवं विस्थापित करके हमारे इन्द्रिय बोध को विकृत करने की कोशिश की जा रही है। चूंकि तकनीकि और राजनीति आज नव–पूंजीवादी व्यवस्था के द्वारा नियंत्रित एवं संचालित हो रहे हैं। इनमें निहित रणनीति और राजनीति, ज्यादा बोलने और जल्दी आकर्षित करके अपने पक्ष को सही और सार्थक

साबित करते हुए, पूंजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व को स्थापित करने के उपक्रम में तब्दील हो चुकी है, जिसमें मानवीय संवेदना और सोच के लिए स्थान न के बराबर है। इसके विपरीत कविता का बिंब अपनी प्रवृत्ति में इससे बिल्कुल उल्टा होता है। वह एक अवकाश रचता है, वह चीजों और स्थितियों के पास ले जाने के लिए एक संवेदनात्मक ज्ञान की पगडण्डी बनाता चलता है। वह स्वयं बोलने के बजाय व्यक्त और वर्णित सच्चाइयों को अधिक से अधिक बोलने का अवसर देता है।'[४] अर्थात भाषा में अतिरिक्त मूल्य (सरप्लस वैल्यू) रचने की सहूलियत प्रदान करता है। यह सहूलियत तभी हासिल हो सकती है, जब कवि अपने इन्द्रियबोध के विखण्डित और विस्थापित होने के संकट से बचे। यह बचाव ही कविता के साथ–साथ कवि की स्वचेतना में समाहित सहज संवेदना के अस्तित्व और अस्मिता को बनाए एवं बचाए रखेगा। तकनीकि, राजनीति और पूंजी के रीमिक्स ने जहाँ एक तरफ इन्द्रियबोध को विकृत करके मनोभावों और आवेगों के परिपक्व चित्रण की क्षमता को क्षीण किया है, वहीं दूसरी तरफ इस रीमिक्स से उत्पन्न सूचनाओं की अतिशयता के कारण कविता में विवरण का वर्चस्व बढ़ा है। इससे कविता में तात्कालिक तथ्यों की स्थूल उपस्थिति से यथातथ्यता की स्थिति उत्पन्न हो गई है। आज कविता में सामान्य तौर पर काव्य संरचना के स्तर पर वर्णनात्मकता और कथा सी आख्यानपरकता होने के कारण इस यथातथ्यता की स्थिति को समझना असुविधाजनक चुनौती की तरह है क्योंकि काव्य भाषा के स्तर पर समाकालीन कविता बोलचाल के बेहद करीब है जो कवि को बेहद चालाकी से बच निकलने की पूरी छूट देती है। इसके कारण ही आमतौर पर कवि काव्यभाषा के स्तर पर अपने अनुभव के बोध से गुजरने के बजाय अनुभव का सामान्यीकरण करने लगता है। इससे काव्यभाषा में इकहरापन आ जाता है और काव्यार्थ परिभाषित अर्थ अर्थात ठहरे हुए अर्थ में परिवर्तित हो जाता है जो 'रचना के भीतर की अनुभूति और शब्द से बने परिवेश में गतिहीन स्थिति उत्पन्न कर देता है। इस गतिहीन स्थिति के परिणामस्वरूप 'उस परिवेश में वह अर्थ न अनुभूति और शब्द के किसी नए संबंध को तलाशता है न अपने में किसी नए संबंध बनने देने की गुंजाइश रखता है और न ही जो संबंध बन गए हैं उन्हें तोड़ता है।'५ कहने की जरूरत नहीं कि गतिहीन स्थिति की बोधक काव्यभाषा, काव्यवस्तु को भी गतिहीन बना देती है, जिससे जीवंत अहसास से हीन कविता का जन्म हो सकता है। इसे सिर्फ काव्य की अनुभूति के संकट के रूप में ही नहीं, बल्कि अनुभूति से कवि के अर्न्तसंबंध की प्रकृति के संकट के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

समकालीन काव्य की सृजनात्मकता में काव्यभाषा के इकहरेपन का संकट जितना गहरा है उससे ज्यादा गहरा संकट पाठकीय दृष्टि से एकरसता का है। एकरसता से यहाँ तात्पर्य विभिन्न विषयों पर अछूते कोणों से लिखी गई कविताओं का पाठक के अन्त:करण पर उनकी प्रभावानुभूति भिन्न–भिन्न होने के बजाए एक सी होने से है। इस तरह की पाठकीय अनुभव की प्रक्रिया समकालीन कवि की रचना–प्रक्रिया के संकटग्रस्त होने की स्थिति की ओर संकेत है। यह संकटग्रस्तता इसलिए आती है क्योंकि आज 'वह पाठकों को वही दिखाना चाहता है जो उसने पहले से तय कर रखा है। शायद यही कारण है कि इधर की कविता में अक्सर यह देखने को

मिलता है कि कविता के शुरू में ही कवि का पक्ष सामने आ जाता है और फिर बाद में अपने इस पक्ष के समर्थन में कवि दृश्य या बिंबों या तर्कों की झड़ी लगा देता है। ऐसी स्थिति में कविता में चित्रित दृश्य या घटना या चरित्र की अपनी कोई निजी सत्ता नहीं होती है जिनमें अपनी कोई निजी गत्यात्मकता नहीं होती है।'[६] इस प्रकार कवि अपनी इच्छा के अनुरूप अपनी कविता की कंडीशनिंग कर देता है, जिससे काव्यवस्तु के मूल स्वरूप का स्वाभाविक विकास बाधित हो जाता है। यह बाधा कविता के अन्त:करण के आयतन को संकुचित कर देती है। वर्तमान समय में इसी वजह से कवि के जीवनानुभव का तनाव काव्यानुभव में तब्दील होने के बावजूद सतही साबित हो रहा है। तनाव का यह सतहीपन अलग–अलग मानव ईकाईयों के ज्ञान को कविता में अन्तर्दृष्टि के रूप में नहीं बल्कि विवरणात्मक जानकारी के रूप में प्रस्तुत करने का परिणाम है। इस स्थिति को हम आम आदमियों पर लिखी गई कविताओं में देख सकते हैं जो 'हम मनोविज्ञान' से प्रभावित हैं। इस किस्म की कविताओं में ''हम मनोविज्ञान में पड़ा कवि परिवेश, व्यक्ति और वस्तुएं सबकुछ को एक सतही भाईचारे में शामिल कर लेता है पर असल में पूरी तरह पूरे मन से वह जुड़ता किसी एक से भी नहीं। 'हम' की ओट लेकर वह 'मैं' का शिकार करता है, पर दूसरी तरफ 'मैं' की रक्षा भी करता है। दूसरों का हो जाने की कामना रखते हुए भी वह अपने स्वप्न की इकाई को 'हम' की दहाई में मिलाकर विलीन होने नहीं देना चाहता।''[७] इस रवैये और रुख की वजह से ही वह भाषा को एक निकम्मी चीज समझता है और अनुभूति की पूरी सच्चाई को महसूस नहीं कर पाता। तभी तो वह आम आदमी के बिल्कुल बगल से गुजरते हुए भी अपना मानवीय चरित्र नहीं महसूस कर पाता और न आम आदमी का चेहरा बन पाता है। इसीलिए वह जुलूस के पीछे पड़े चेहरे को हमारा चेहरा न कहकर तुम्हारा चेहरा कहता है। कवि का इस प्रकार का आत्मबोध वस्तुत: आत्मपलायन का प्रतीक है।

मेरी नजर में ये समकालीन कविता के सामान्य संकट हैं जो समकालीन सृजनशीलता की जमीन को न समझ सकने के चलते उत्पन्न हुए हैं। अति–आत्मसजगता और काव्यवस्तु की अर्थ–छवियों के पूर्व–परिचय ने कवि की सृजन–प्रक्रिया में रचनात्मकता के उपयोग करने लायक 'दो पंक्तियों के बीच' की जमीन को अति संकुचित करके उसकी नव–उन्मेष की मौलिक शक्ति को नुकसान पहुंचाया है। इन संकटों ने कविता को आज इस रास्ते पर लाकर छोड़ा हैं, जहाँ साफ्टवेयर की संवेदना ने कविता का निर्माण करने की प्रवृत्ति पैदा करके कविता का अति–सरलीकरण कर दिया है। वह मानव निर्मित मानवीय वस्तु न हो करके रेडीमेड माल हो गई है, जिसमें मानवीय अन्त:साक्ष्य से अलग पूर्व–निर्धारित पर–साक्ष्य शामिल हैं। इससे कविता मात्र अवधारणाओं के रूपक के रूप में ही संभव हो पा रही है। सिर्फ अवधारणात्मक रूपक में रूपान्तरित दृश्य या बिंब या चरित्र जड़ीभूत सौन्दर्य के नमूने से इस कदर युक्त होते जा रहे हैं कि कविता का समकालीन काव्यशिल्प अति पारदर्शी हो गया है। उसमें से कविता की देह स्थूल यथार्थ की तरह नजर आती है। इस स्थूल यथार्थ पर न कवि स्वयं मुग्ध और मुक्त होकर स्व–चेतना के स्तर पर समृद्ध महसूस कर सकता है और न पाठक ही। क्योंकि स्थूलता 'उद्वेगहीन अनुभव' को जन्म देती है न कि 'अद्वितीय अनुभव' को। काव्य अनुभव के स्तर पर अगर कवि और पाठक

'अद्वितीय अनुभव' से वंचित हैं तो वे काव्यवस्तु में निहित मानवीय मर्म के अनुभव से वंचित हैं। वे अनुभव की उस ताजगी से वंचित हैं जो उसे उसके समकाल से संपृक्त करती है। ये सब तभी संभव हो सकता है जब कवि दूसरे समय के बजाय अपने समय के निहितार्थों को समझे, तभी वह दूसरे समय के निहितार्थों की प्रामाणिकता महसूस कर सकता है। इस रूप में अपने समय में "सार्थक कवि कर्म परिस्थितियों में से गुजर कर अपने होने का हिसाब–किताब रखना भर नहीं है बल्कि उस होने की दिशा को खोजना और पाना भी है।"[८] इस दिशा को अपनी समकालीनता में ही महसूस किया जा सकता है, और यह समकालीनता तभी अर्जित की जा सकती है जब अपने समय को समग्र भाव और बुद्धि ऊर्जा, आसक्ति और उत्कटता के साथ जिया जाए। तभी हम अपने समय का सार्थक काव्यात्मक अर्थ हासिल कर सकते हैं।

सन्दर्भ :

१.नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व–१, छठवां दशक, विजयदेवनारायण साही, हिंदुस्तानी ऐकेडमी, प्र.सं. १९८७, पृ. १३९

२.कविता और पंडोरा की पेटी से आती एक धीमी आवाज, एक कवि की दूसरी नोटबुक : समकालीनता और साहित्य, राजेश जोशी, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं. २०१०, पृ. २४

३.वही, पृ. २४

४.वही, पृ. २५

५.काव्य भाषा का इकहरापन : मलयज, पूर्वग्रह–१ (सं. अशोक वाजपेयी), सितंबर, १९७४, पृ. ८

६.कठिन समय में कविता, कविता का वैभव : विनोद दास, शिल्पायन प्रकाशन, सं. २००६, पृ. १४

७.काव्य भाषा का इकहरापन : मलयज, पृ. ९

८.वही, पृ. १०

•••

आलोचना:

अस्तित्ववादी चेतना और औपन्यासिक चरित्र

(सुरेन्द्र महान्ती के उपन्यासों के विशेष संदर्भ में)

***बालकृष्ण बेहेरा**

सुरेन्द्र महान्ती के उपन्यासों के चरित्र मानव–जीवन की आकस्मिकता और अनुपमता के साथ विकसित होते हैं। वे समाज की पारंपरिक जीवनधारा से अलहदा हैं। वे व्यक्तिगत जीवनानुभूतियों की महानताओं से मंडित हैं। ये चरित्र मानव–दु:खों से मुक्तिकामना के साथ जीवन को सुखद तथा समृद्ध बनाने के लिये भी आवश्यक चेतना से संपृक्त हैं।

उनके उपन्यास *अंधदिगन्त*, *नेतिनेति* और *फटामाटी* में गांधीवादी दर्शन, *नीलशैल*, *नीलाद्रिविजय* में जगन्नाथ धर्म और संस्कृति, *आजीवकरअट्टाहास* में बौद्धधर्म और आजीवक गोष्ठी के नियतिवादी विषय वर्णित हैं। *कालान्तर* और *हंसगीति* में व्यक्तिगत जीवन के आत्मदहन, अनुताप और उनसे परे जाने के कथाचित्र हैं। इन समस्त उपन्यासों में स्वाधीन व्यक्ति–जीवन ही महत्वपूर्ण है। ये स्वाधीन मानव मानवीयता से परिपूर्ण हैं और विकसित चेतना–संपन्न हैं। तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थ या सामाजिक मूल्यहीनता से रहित ये पात्र व्यक्तित्व की बुनियादी दृढ़ता के चलते मानवीयता के पक्षधर हैं।

नेतिनेति का कथानायक मानवेन्द्र तथाकथित सामाजिक मर्यादाओं के अनुषंग में व्यवहारकुशल नहीं है। कांतामामू का निजी ठौर तो नहीं है पर कांतामामू की दयालुता और सज्जनता पर न जाने कितने व्यक्ति परिपोषित हो रहे हैं। *नीलशैल* और *नीलाद्रिविजय* के राजा रामचन्द्रदेव राजा की परंपरागत छवि के विपरीत दया और मानवीय करुणा से पूर्ण हैं। उनमें किसी तरह की साम्राज्य की इच्छा या धर्मविशेष के प्रति वैचारिक आग्रह भी नहीं है। केवल विराट मानवीय प्रेम ही उनका एकमात्र साम्राज्य और निधि है। रिजिया के प्रति उनके मन में प्रेम है। सरदेई के प्रति सम्मान की पवित्र भावना है। जगुनि, जो कि उनका सेवक है, के प्रति भी राजा के मन में उतना ही स्नेह है। जनता की धर्मान्धता उनके मन को आहत करती है। रामचन्द्रदेव की चारित्रिक बुनावट यह स्पष्ट कर देती है कि एक धर्मान्ध समाज के बरक्स एक हृदयवान व्यक्ति ज्यादा श्रेयस्कर होता है। वहीं सरदेई अपना सबकुछ खो चुकी है। वह नितांत अकेली है। इस अकेलेपन के अपार दुख के बावजूद, उसके मन में दूसरों के प्रति करुणा का पारावार भरा हुआ है। रिजिया मुसलमान पिता तकी खां और एक हिन्दू माता की संतान है। वह रामचन्द्रदेव के महान उद्येश्यों में सहधर्मिणी भी है और सहकर्मिणी भी। पूरे औपन्यासिक कलेवर में उपरोक्त पात्रों का आत्मिक और वैचारिक संघर्ष पट्टमहादेई ललिता, अमीर चांद और सुजा खां जैसे धर्मान्ध और ऐश्वर्यभोगी चरित्रों के साथ चलता रहता है। उपन्यासकार ने इन विरोधी चरित्रों की सर्जना के माध्यम से कथानायक और उनके चारित्रिक उन्नयन में रचनात्मक सफलता पाई है। नीलशैल की पूरी

*सहायक प्राध्यापक : ओड़िआ विभाग, को–ऑपरेटिव कॉलेज, जमशेदपुर, मो. 09470352676

कथा–संरचना में राजा रामचन्द्रदेव स्वयं को वर्गच्युत (declass) करके, जीवन के सुंदरतम की रक्षा के लिये प्रतिबद्ध हैं।

अंधदिगन्त के निधिदास गांधीवादी दर्शन के हद दर्जे तक समर्थक हैं। इस हद तक कि वे गांधी के चरखे को सुदर्शनचक्र का रूप मान बैठे हैं। गांधी के स्वराज्य के सपनों को संजोये हुए वे यह दृढ़ विश्वास रखते हैं कि एक दिन कोई ऐसा जरूर आयेगा जो गांधी के आदर्शों के माध्यम से स्वराज्य को फलीभूत करेगा। हालांकि अपने पालित पुत्र के माध्यम से उन्हें मार्क्सवादी भी प्रचारित किया जाता है। लेकिन वे सहज भाव से यह कहते हैं कि 'मार्क्सवाद या गांधीवाद मेरे लिये विचारमात्र हैं। मैं केवल मानव–कल्याण का समर्थक हूं। मेरे जीवन और विचारों का उद्येश्य मनुष्य मात्र की बेहतरी है।'

फटामाटी के ऋषिकेश पेशे से शिक्षक हैं और गांधीवादी आदर्शों के अजस्र वाहक। वे एक बेहतर दुनिया की अनंत तलाश के पथिक हैं। शिक्षक के पेशे से निवृत्त होने के बाद जब वे गांव लौटते हैं तो सबकुछ बदला हुआ पाते हैं। गंवई ओछी राजनीति, वैमनस्य, आर्थिक असमानता, अपराध, अशिक्षा को देखकर वे आहत होते हैं। वे संकल्प लेते हैं बदलाव का और पुन: एक नयी आस्था के साथ प्रतिबद्ध होते हैं। वे कहते हैं कि : ''प्रत्येक युद्ध, महायुद्ध, मन्वंतर, महामारी के आगे मानव–आत्मा की उत्सवधर्मिता, आनंद और आशा कभी मरी नहीं है, न मरेगी ही।'' *कालांतर* की केतकी स्त्री अस्मिता की प्रतीक है। वह विधवा है, जोगीनना से प्रेम करती है, निश्छल प्रेम; विवाह की परंपरा से प्रतिरोध कर वह अपने प्रेमी के सान्निध्य में रहती है। गर्भवती भी होती है। संतानोत्पत्ति के बाद संतान के जीवित न रह पाने पर वह किसी आत्मग्लानि या अपराधबोध की जगह तथाकथित रूढ़िवादी सामाजिक मर्यादाओं पर ही प्रहार करती है। वह कहती है कि न तो उसका प्रेम अपवित्र था न ही उस प्रेम की वह निष्पत्ति– उनकी संतान। यदि संतान की मृत्यु हुई तो इसका दोष सामाजिक व्यवस्था के अमानवीय और अंधे नीति–नियमों पर ही जाता है। बावजूद सामाजिक उपेक्षा और अकथनीय निजी दुख के वह भयानक आँधी–तूफान की एक रात प्रसव पीड़ा से तड़प रही महिला की मदद के लिए घर से निकल पड़ती है। उपन्यासकार ने सामाजिक व्यवस्था द्वारा पीड़ित और उपेक्षित चरित्र में कोई प्रतिक्रियावादी या विघटनकारी प्रवृत्ति न दिखाकर उसे मानवीय और दयापूर्ण दिखाया है। ऐसा ही चरित्र ही किसी भी मानवीय समाज के लिये आवश्यक होता है। केतकी का मानना है कि मानव हृदय में मौजूद अपनेपन की ताकत के समक्ष आँधी–तूफान की ताकत भी कुछ नहीं है। *हंसगीति* का नायक सुब्रत नायकत्व और प्रतिनायकत्व के बीच का चरित्र है। इस ग्रे–शेड के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पन्नालाल नामक पूंजीपति के मातहत के रूप में नशीली दवाओं के व्यापार में काम करता है। पन्नालाल का संबंध आत्मानंद नामक योगी से है, जिसका आश्रम नशीली दवाओं के भण्डारगृह के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। ये दोनों तथाकथित धर्मात्मा और पूंजीपति सिर्फ मुनाफे की हवस में तमाम गरीब और दिग्भ्रमित युवाओं को नशे की एक अंधेरी सुरंग में ढकेलते जा रहे हैं। सुब्रत की आत्मा धिक्कारती है। वह विरोध कर बैठता है। वह नशे में बर्बाद हो रहे लोगों को समझाते हुए कहता है कि 'जीवन से हारकर जीने का मतलब कुछ भी नहीं है। जीने

के लिए लड़ना जरूरी है– अपनी कमजोरियों से लड़ने में ही वीरता है।' ऐसा ही एक चरित्र अरुण है जो मरणासन्न होने के बावजूद जीने की अदम्य इच्छा रखता है। *आजीवकरअट्टाहास* में चरित्रों की बहुलता के माध्यम से उपन्यासकार ने मानव–स्वभाव की विविधता का निदर्शन किया है। गौतम बुद्ध, आजीवक, कामान्दक, खेमा, उपनन्द और कस्तूरिका नामक चरित्र जीवन और मानव–अस्मिता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियां हैं। गौतम बुद्ध की साधना मनुष्य के दुख के कारण और निवारण के तलाश की साधना है। साधना से प्राप्त सिद्धान्तों को वे अंतिम नहीं मानते। अपने अनुयायियों को भी वे अपने सिद्धान्तों का अंधसमर्थक बनने से मना करते हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक मानव स्वयं को पहचाने, अपनी अस्मिता को स्वयं न्यायसंगत बनाये और यदि इसके लिए उनके (बुद्ध के) सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करना पड़े, तो बेहिचक करें। यही उदार चेतना उन्हें मानवीयता की पराकाष्ठा पर स्थापित करती है। आजीवक व्यक्तिवाद का समर्थक है। वह संघ के माध्यम से सिद्धिलाभ की धारणा पर विश्वास नहीं करता। उसकी दृढ़ मान्यता है कि निवृत्तिमूलक साधना की अपेक्षा जीवन के प्रति प्रवृत्ति ही मनुष्य के लिये वरेण्य है। साधना, संयम और सिद्धि जैसी शुष्क और प्राणहीन पद्धति की अपेक्षा मानव की सहजात प्रवृत्तियाँ अधिक जीवंत और प्राणवान होती हैं। मानव जीवन पाप और पुण्य की थोथी मर्यादा के ऊपर है। उपनन्द भी आजीवक की तरह कृत्रिमतापूर्ण साधना पद्धति को त्याग देता है। वह श्रमणी खेमा से प्रेम करता है। उसका मानना है कि स्त्री के प्रति आकर्षण और दैहिक सायुज्य की भावना पवित्र और स्वाभाविक है। परस्पर दैहिक संसर्ग से पुरुष और स्त्री जिस आध्यात्मिक आनंद की प्राप्ति करते हैं वह किसी साधना पद्धति से संभव नहीं है। वह कहता है कि यदि दुख, सुख, व्याधि, मरण आदि यथार्थ हैं तो परम सुख की कामना भी यथार्थ है। रूप, संज्ञा, वेदना आदि सबकुछ जीवन का सुंदरतम प्रकाश है। यहाँ तक ही जिसे माया कहकर मिथ्या चेतना बताया जाता है, दरअस्ल वह भी मिथ्या नहीं यथार्थ ही है। पार्थिवता में ही सच्चे और अनूभूत सुख की प्राप्ति संभव है। संघ जिसे स्खलन कहता है वह उसे उन्नयन मानता है। खेमा भी उसकी अनुभूतियों के साथ तादात्म्य रखती है। इसी तरह कामान्दक जो कि एक बौद्ध श्रमण है, वह श्रेष्ठीकन्या कस्तूरिका से प्रेम करता है। संघ के शील के अनुसार श्रमण एक ही घर से दुबारा भिक्षा नहीं लेने जा सकता था। परंतु कामान्दक बार–बार कस्तूरिका के घर पर ही जाता है। इस सहज और निष्कलुष प्रेम के बीच संघ की दीवारें खड़ी होती रहती हैं। फिर भी कामान्दक निशंक और निर्द्वन्द्व होकर कस्तूरिका से मिलता है। कुल मिलाकर लगभग समस्त चरित्र किसी निर्जीव, यांत्रिक जीवनशैली की बजाय जीवन के विविध रंगों के सौन्दर्य में भीतर तक जाते हैं। वे जीना चाहते हैं। इस तरह सुरेन्द्र महान्ती के उपन्यासों में आये सभी चरित्र अस्तित्वादी मूल्यबोध से अनुप्राणित हैं। उनमें मृत्युबोध है, नि:संगताबोध है, मनुष्यत्व के सतत उन्नयन का बोध है, अदम्य जिजीविषा है। वे हर आपदाओं के पार जाकर अंतत: मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा करते हैं। स्वयं सुरेन्द्र महान्ती के शब्दों में कहें तो : ''नि:संगताबोध प्रत्येक मनुष्य की सहजावृत्ति है। प्रत्येक संवेदनशील और भावप्रवण व्यक्ति नि:संग है। (प्रजापति, पृ. ७४)'' अंतत: सुरेन्द्र महान्ती के समस्त उपन्यासों में धर्म, पूंजीवाद, समाजवाद आदि विचारधाराओं की कृत्रिमतापूर्ण पद्धति के बरक्स मनुष्यत्व की

प्रतिस्थापना मिलती है।

सन्दर्भ :

- आजीवकरअट्टाहास : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, द्वितीय संस्करण, १९९१ ई.
- प्रजापति : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, प्रथम संस्करण, १९९२ई.
- नेतिनेति: सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, तृतीय संस्करण, १९९७ई.
- नीलाद्रिविजय : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, चतुर्थ पुनर्मुद्रण, १९९८ई.
- कालांतर : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, छठां पुनर्मुद्रण, १९९९ ई.
- नीलशैल : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, नवम् संस्करण, २००२ ई.
- फटामाटी : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, द्वितीय संस्करण, २००४ ई.
- हंसगीति : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, प्रथम पुनर्मुद्रण, २००४ ई.
- अंधदिगन्त : सुरेन्द्र महान्ती, कटक स्टूडेंट स्टोर प्रकाशन, कटक, ओड़ीशा, पाँचवां संस्करण, २००५ई.

•••

अशोक के व्यक्तिगत एवं सार्वजनीन धर्म की अवधारणा
(अभिलेखों के विशेष संदर्भ में)

***देवेन्द्र कुमार सिंह**

अशोक के शासनकाल की ओर इतिहासकारों का ध्यान एक शताब्दी से पहले आकृष्ट हुआ। १८३७ में जेम्स प्रिंसेप ने पहली बार अशोक के शिलालेखों पर एक लेखमाला प्रकाशित की थी। अशोक पर पहली स्वतंत्र पुस्तक विंसेंट स्मिथ ने १९०१ में प्रकाशित कराई। कुछ शताब्दियों पूर्व, जब अशोक के अधिकांश लेख प्रकाश में नहीं आये थे और उसमें से कुछ लेख पढ़े भी नहीं जा सके थे, अल्प सामग्री एवं सूचना के आधार पर, एच. एच. विल्सन एवं एडवर्ड टॉमस जैसे प्राच्यविदों ने प्रथमत: यह सम्भावना व्यक्त की थी कि अपने सिंहासनारोहण के पूर्व अशोक जैन धर्मावलम्बी था, और उसके कुछ वर्षों बाद उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था।[1] किन्तु अशोक के अभिलेखों के विशद अध्ययन एवं समग्र आंकलन के बाद, कालान्तर में यह विचारधारा शिथिल पड़ने लगी। डॉ. जे. एफ. फ्लीट ने अशोक के अभिलेखों में वर्णित उसके धर्म–विषयक अर्न्तसाक्ष्यों का अनुशीलन करने के उपरान्त सम्भवत: बूलर के विचार का अनुमोदन करते हुए यह सम्भावना व्यक्त की, कि अशोक के लेखों में वर्णित धर्म अन्तत: बौद्ध धर्म न होकर उसके द्वारा उद्घोषित ''मानव–धर्म'' है, जिसे उसने अपनी प्रजा के इहलौकिक एवं पारलौकिक उत्थान के लिए उत्कीर्ण कराया था।

विंसेन्ट स्मिथ ने इस तथ्य पर विचार करते समय यह मत व्यक्त किया कि अशोक का धर्म किसी धर्म विशेष का द्योतक नहीं है, अपितु यह प्राय: अन्य सभी धर्मों में निहित उनके मूल तत्त्वों का समाहित रूप जैसा है।[2] इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने अभिलेखीय साक्ष्यों की विवेचना करते हुए यह मत व्यक्त किया कि अशोक का अपना धर्म बौद्ध धर्म था, और उसके द्वारा उत्कीर्ण अन्य अनेक विधान जिनके पालन का निर्देश बार–बार उसने अपनी प्रजा के लिये किया है, और जिन्हें वह स्वयं भी पालन करने का उल्लेख करता है, बौद्ध–धर्म ग्रन्थों में उल्लिखित नैतिक उपदेशों के ही रूपान्तर मात्र हैं। डॉ. बेनी माधव बरूआ के विचार से अशोक का धर्म बौद्ध धर्म के लौकिक सिद्धान्तों के अनुरूप है तथा उसके समस्त विचारों का पूर्णरूपेण समर्थन करता है।[3] डॉ. एच. सी. रायचौधरी ''दीघनिकाय''[4] में वर्णित भगवान बुद्ध द्वारा बताये गये चक्रवर्ती सम्राट के धर्म नियमों की समता अशोक के धार्मिक विचारों एवं धर्म–विषयक निदेर्शों में अनूदित देखते हैं।[5] डॉ. भण्डारकर, विल्सन एवं टॉमस के उक्त विचारों को अनिर्भरणीय पाठों और अनिर्वचनीय तथ्यों पर आधारित समयातीत बताते हुए अशोक का व्यक्तिगत रूप से बौद्ध–मतावलम्बी होना ही उचित मानते हैं।[6] सिंहली अनुश्रुतियां अशोक को प्रारम्भ में शैवमतावलम्बी और अत्यन्त क्रूर एवं चण्ड (चण्डाशोक) बताते हुए कालान्तर में उसके बौद्ध मत ग्रहण कर लेने

*सहायक प्राध्यापक : इतिहास विभाग, इं.गाँ.रा.जनजातीय वि.वि., अमरकंटक, म.प्र., मो. 09407343426

का बौद्ध मत की महानता प्रतिपादन सम्बन्धी दृष्टान्त देती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक के अभिलेखों में वर्णित धर्म और उसका स्वरूप स्वयं में काफी व्यापक एवं विशद है। उसके बारे में स्पष्टतया यह निर्णय करना कि अशोक का धर्म पूर्णत: बौद्ध था अथवा अभिलेखों का धर्म विश्व धर्म ही है, कठिन है। वास्तव में अशोक ने अपने अभिलेखों के माध्यम से जहाँ एक ओर अपने व्यक्तिगत धर्म एवं उसकी उपासना आदि का उल्लेख किया है, वहीं उसने उसी समान स्तर पर एक विश्वजनीन धर्म का स्वरूप भी सामने रखा है, और इस प्रकार उसके धर्म को व्यक्तिगत धर्म एवं सार्वजनीन धर्म के माध्यम से देखना ही युक्ति संगत लगता है।

व्यक्तिगत धर्म :

उसका अपना व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म था। यह बात उसके विभिन्न लेखों तथा अन्य साक्ष्यों से काफी सीमा तक पुष्ट होती है। गौण शिला प्रज्ञापन एक[७] में वह अपनी बौद्ध धर्म के विकास की स्थिति बताता है कि, ''ढाई वर्ष का करीब समय व्यतीत हुआ तब से मैं बौद्ध उपासक हो गया हूँ, परन्तु मैंने सन्तोषप्रद उद्योग नहीं किया। एक वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ जब से मेरा आगमन संघ में हुआ और तभी से मैंने अधिक उद्योग किया है।'' इस लेख के कथन से उसके बौद्ध संघ में प्रवेश का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। इसका यह अर्थ उचित न होगा कि वह भिक्षु बन गया था।

अशोक के भाब्रू शिलालेख (द्वितीय वैराट प्रज्ञापन) से अशोक का बौद्ध धर्मावलम्बी होना निश्चित रूप से प्रमाणित होता है जिसमें भगवान बुद्ध के वचनों की अनुशंसा करते हुये उसने अपने अन्तर्मन की विचारधारा को इन शब्दों में बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है : ''भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा'', अर्थात् ''भगवान बुद्ध ने जो कुछ भी कहा है, वह सब सुभाषित रूप में (संघ के लिए) अनिवार्यत: ग्रहणीय है'', साथ ही ''विनयसमुकसे''[८] आदि जिन सात सूत्रों को उसने कंठस्थ करने पर बल दिया है, वे भी पूर्णत: बौद्ध धर्म की गाथाओं[९] से ही उद्धृत हैं, और इस प्रकार अशोक का व्यक्तिगत रूप से बौद्ध होना ही सिद्ध करते हैं। इतना ही नहीं अशोक ने अपने कौशाम्बी, सांची तथा सारनाथ के लघु पाषाण स्तम्भों पर भी इसी आशय की आज्ञायें उत्कीर्ण करायीं जो बौद्ध धर्म और संघ के स्थायित्व, अभिवृद्धि और एकता की कामनाओं से पूरित थीं।[१०] अनुश्रुतियों में भी अशोक को व्यक्तिगत रूप से बौद्ध निरूपित करते हुए उसे ''मोग्गलिपुत तिस्स'' की अध्यक्षता में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजनकर्ता कहा गया है। इसके अतिरिक्त अशोक ने अपने पाँचवें स्तम्भलेख में उपोसथ (बौद्ध–धर्मावलम्बियों का एक विश्राम एवं अवकाश का दिन) मनाने की बात कहता है।[११] यह उपोसथ का दिन मनाना पूर्ण रूप से तथागत के धर्मानुयायियों का है, अन्य धर्मो में इसका कोई स्थान अथवा महत्व नहीं है।

धम्म–यात्रा करना अशोक के जीवन का एक निश्चित कार्यक्रम बन गया था, उसकी एक धर्म यात्रा के संस्मरण, नेपाल की तराई प्रदेश में प्राप्त हुए दो स्तम्भ लेखों में संरक्षित मिलते हैं, इनमें से एक लेख ''रूम्मिनदेई''[१२] में मिले एक स्तूप पर उत्कीर्ण है : ''देवताओं का प्रिय

राजा प्रियदर्शी अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष स्वयं यहाँ आया और उसने श्रद्धापूर्वक अर्चना की, क्योंकि यहाँ शाक्यमुनि– बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए उसने यहाँ एक बड़ी पत्थर की दीवार का निर्माण कराया और एक पाषाण स्तम्भ भी स्थापित किया।'' नेपाल की तराई में अशोक का दूसरा स्तम्भ निगलिवा अथवा निगाली–सागर से प्राप्त हुआ है।[१३] इस लेख में कहा गया है : ''देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने अपने चौदहवें राज्यवर्ष में ''कोनाकमन'' के स्तूप को उसके पूर्व स्वरूप से दो–गुना बड़ा करवाया, और अपने बीसवें राज्यवर्ष में वह स्वयं इस स्थान पर आया और उसने अर्चना की एवं एक पाषाण स्तम्भ भी निर्मित कराया।'' इसके अतिरिक्त जिन तथ्यों से उसका बौद्ध धर्मावलम्बन प्रमाणित होता है, वे हैं उसके अभिलेखों की कुछ हीनयानी परम्परा में बने बुद्ध के निर्देशन सम्बन्धी कलात्मक संकेत, जिनके आधार पर अशोक को असंदिग्ध रूप से बौद्ध माना जा सकता है, गिरनार के शिलालेख तेरह[१४] के अन्त में एक श्वेत हाथी जो दीघनिकाय के ''बोधिसत्वों श्वेतवरू वारूणों हुत्वा''[१५] की ओर इंगित करता है, बना हुआ है। धौली में भी अनगढ़ शिला को काट कर हाथी बनाया गया है। कालसी में लेख की शिला पर ही एक विशालकाय हाथी की मूर्ति बनाकर ''गजतमे'' लिखा गया है। यह निश्चित ही प्रतीकों के माध्यम से इन सभी लेखों पर भगवान बुद्ध में आस्था व्यक्त करता है। इन प्रतीकों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे अशोक ने इतने उद्यम के उपरान्त उत्कीर्ण कराये गये लेख अपने इष्ट देव भगवान बुद्ध को ही समर्पित कर दिये हों और इस प्रकार अशोक के नये अपनाये गये धर्म (बौद्ध धर्म) के प्रति झुकाव की सीमा निर्धारित करना कठिन है।[१६]

सार्वजनीन धर्म :

अशोक की स्वधर्महित चिन्तन की भावना को देखते हुए यद्यपि कभी–कभी यह स्वाभाविक चिन्ता होने लगती है कि क्या उसने अपने धर्म के स्थायित्व एवं कल्याण तथा विस्तार के लिए अन्य धर्मावलम्बियों के धर्म को नगण्य तो नहीं कर दिया अथवा दूसरे रूप में विभिन्न धर्मो एवं सम्प्रदायों में आस्थावान अपनी प्रजा को अपने राजकीय प्रभाववश इसे मानने पर विवश तो नहीं किया? तो ज्ञात होता है कि उसने कभी भी वैयक्तिक धर्म को राजनैतिक व्यक्तित्व के फलस्वरूप जनता की भावनाओं पर अवांछित रूप से थोपने का प्रयास नहीं किया, प्रत्युत तत्कालीन समाज में मान्यता प्राप्त सभी सम्प्रदायों को समान संरक्षण एवं सम्वर्धन प्रदान किया।

डॉ. बेनी माधव बरूआ का कथन है कि ''अशोक के धर्म में राजधर्म की समस्त नीतियाँ समाहित थीं।[१७] वैदिक साहित्य से लेकर महाभारत और रामायण तथा इसके अतिरिक्त अन्यानेक ब्राह्मण धर्म ग्रन्थों तथा पाली जातकों में विशेषकर अंगुत्तर निकाय के राजबग्ग सुत्त में *अग्गन्न चक्कवत्तिसिंहनाद* और दीघनिकाय के *लक्खन्न* एवं *सिगालोवाद सुतन्त* आदि संग्रहों में राजधर्म की उत्कृष्ट नीतियों का विश्लेषण सन्निहित है। दूसरी ओर अशोक के धर्म को हम उन्हीं मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित पाते हैं, जो इन तमाम धर्म ग्रन्थों में एक लोकप्रिय एवं प्रजावत्सल शासक के धर्म में होना आवश्यक बताया गया है। अशोक का राजधर्म समाज के प्रति न्यायपूर्ण आचरण अथवा दैवीय–धर्म की नींव स्वरूप है, जो शासक को अपनी प्रजा के नैतिक एवं सामाजिक उत्थान

हेतु पथ प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

ब्राह्मण ग्रन्थों में एक परम्परागत परिभाषा मिलती है कि ''शासक वह है जो अपनी प्रजा को प्रसन्न रखता है''– ''प्रजानं रजयति पकतियों रंजयति''[१८] वर्णन अशोक अपने स्तम्भ लेख एक में प्रशासन के कुछ नियमों का इस प्रकार वर्णन करता है– ''धंमेन पालना धंमेन विधाने धंमेन सुखियना धंमेन गोतीति।''[१९] अर्थात् ''शासन वह है जिसमें धर्म के द्वारा प्रजा का पोषण हो, नियम धर्म पर आधारित हो, प्रजा को धर्म कार्यों द्वारा प्रसन्न किया जाये और धर्म के द्वारा ही उसकी रक्षा की जाये।'' अशोक भी समस्त जनों के सुख में ही अपना सुख मानता है और सर्वलोक हित से बढ़कर कोई अच्छा काम नहीं समझता है। यथा, छठवें शिलालेख में वह कहता है : ''कतव्य–मते हि में सर्व–लोक–हितं... नास्ति हि कंमतरं सर्व–लोक–हितत्या।''[२०]

अशोक के धर्म में जो सबसे विलक्षण और दर्शनीय तत्त्व है वह उसके साम्राज्य में प्रचलित तत्कालीन समस्त धर्मों के प्रति उसकी सहिष्णु नीति एवं उन विविध धर्मों के उत्कर्ष तथा उन्नयन की कामना में रत उसके भावानात्मक कार्य हैं, जिनका उल्लेख शिला एवं पाषाण स्तम्भों पर मिलता है। अशोक विभिन्न धर्मानुयायियों से आशा करता है कि वे अपने–अपने धर्म की विशेषताओं और सिद्धान्तों के माध्यम से एक दूसरे की सहायता करें उनके आचार व विचारों का आदान–प्रदान मुक्त ह्दय से हो, एक दूसरे के धर्म सिद्धान्तों को बिना किसी भेद–भाव के वे श्रवण करें, जिससे एक धर्म को मानने वाले व्यक्ति को अन्य धर्मों के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान हो तथा एक नवीन परिपाटी इस प्रकार जन्म ले।[२१]

अशोक के धर्मोपदेशों में वे सभी तत्त्व समाहित हैं जो समसामयिक अन्य धर्मो में निहित थे। अशोक के शिला एवं प्रस्तर स्तम्भों पर अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के प्रति सहानुभूति एवं सहृदयिक भाषा में उत्कीर्ण लेखों का विश्लेषणात्मक विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : अशोक अपने सातवें शिलालेख में कहता है[२२] कि ''देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी की कामना है कि सब जगह सभी सम्प्रदायों के लोग निवास करें'' अत: यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अशोक के मस्तिष्क में धार्मिक संकीर्णता अथवा भेदभाव की भावना का कोई स्थान नहीं था। अशोक की सशक्त अभिलाषा है कि किसी भी स्थिति में समाज के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय के लोगों के मध्य वैमनस्य का प्रादुर्भाव न हो इसीलिए वह स्वयं भी समस्त धर्मों का समान रूप से सत्कार करता था। इस प्रकार का कोई भी उदाहरण उसके अभिलेखों में नहीं मिलता जिससे ब्राह्मण, सन्यासी और बौद्ध भिक्षु की मान्यता को लेकर किसी भी प्रकार का विभेद उत्पन्न किया गया हो।

अशोक के अभिलेख उसकी सहिष्णुता से परिपूर्ण हैं। अशोक की सहिष्णुता का यह अर्थ नहीं कि वह अन्य धर्मों का अस्तित्व केवल सहन मात्र ही करता है। वह सहनशीलता के स्तर से ऊपर उठकर समस्त धर्मों की विविध प्रकार से उपासना, आदर, एवं उनकी सहायता करता है। उसने अपने शिलालेख बारह में धार्मिक सहिष्णुता का वह उदाहरण प्रस्तुत किया है जो सहिष्णुता की पराकाष्ठा का अतिक्रमण कहा जा सकता है। उसी के शब्दों में : ''देवनंप्रियों

प्रियदशि रय सव्र–प्रषंडनि प्रव्रजितनि ग्रहथनि च पुजेति दनेन विविधये च पुजये।''[२३] इस प्रकार ''देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी सब संप्रदाय वालों का, चाहे वे त्यागी हो, चाहे ग्रहस्थ सबका विविध दान और पूजा से सत्कार करता था।'' यद्यपि यह समस्त सम्प्रदाय के लोगों के प्रति आदर भावना का उद्‌गार सहिष्णुतापरक विचारों का ही प्रतिफल है तथापि अशोक केवल आदर और सत्कार मात्र को इतना महत्व नहीं प्रदान करता जितना इस बात को कि सब धार्मिक सम्प्रदायों के लोगों में सारतत्व की वृद्धि हो।[२४]

अशोक ने कलिंग युद्ध की विभीषिका को देख कर राजनैतिक विजयों के स्थान पर धर्म विजय को उचित समझा क्योंकि सब जीवों की अक्षति, संयमित जीवन– जिसमें सब जीवों के प्रति समानता की भावना निहित हो तथा सभी प्रसन्न हों, वांछनीय है। वस्तुत: यही वास्तविक धर्म है। अशोक की इसी भवना परिवर्तन का परिणाम उसकी धर्म यात्राएँ थीं। इन धर्म यात्राओं में ब्राह्मण (सन्यासी) और श्रमण भिक्षुओं के दर्शन प्राप्त होते थे, उनसे साक्षात्कार के फलस्वरूप धर्म की विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रश्नोत्तर रूप में होता था। इन यात्राओं में अशोक समस्त धर्मावलम्बियों को मुक्त ह्रदय से हिरण्य तथा वस्त्र इत्यादि दान स्वरूप देता था।[२५] यह सब उसके सहिष्णु मानस की विशालता के प्रमाण हैं।

बराबर पहाड़ी पर खुदवायीं गयीं गुफ़ाओं का दान अशोक की आजीविकों के प्रति सहिष्णुता का एक ज्वलन्त उदाहरण है : ''लाजिना प्रियदसिना दुवादस वसाभिसितेना इयं निगोह कुभा दिना आजीविकेहि।''[२६] यह गुफा राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्याभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् आजीविकों को दान में दी। इस प्रकार की तीन गुफाओं के दान देने का उल्लेख इन तीनों गुफाओं में उत्कीर्ण लेखों से प्राप्त होता है। यह इस मत का अकाट्य प्रमाण सिद्ध होगा कि अशोक को जहाँ अपने बौद्ध धर्म के प्रति लगाव था वहीं वह ब्राह्मणों और आजीविकों के धर्म के प्रति अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हुआ, बल्कि उनको यथासमय दान इत्यादि देकर स्थायित्व प्रदान करने का भरसक प्रयत्न करता रहा। अशोक ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यहाँ तक कि राजनीति एवं प्रशासन में भी धार्मिक सहिष्णुता को सर्वोपरि महत्व दिया और उसकी अभिव्यक्ति भी अपनी भाषा में मौलिक ढंग से स्तम्भलेख छ: में इस प्रकार की गई है : ''इछितविये हि एसा किंति वियोहाल–समता च सिय दंड–समात चा।''[२७] यह व्यवहार समता एवं दण्ड का अधिकार उसने अपने उन पदाधिकारियों को दिया जो निष्पक्ष भाव से प्रजा के हित एवं सुख के सम्वर्द्धन में निरत थे।

इस प्रकार जहाँ अशोक ने बौद्ध धर्मानुयायी होने के नाते बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयास किया वहीं उसने शासक होने के नाते देश में प्रचलित समस्त सम्प्रदायों को अपना विकास करने का पूर्ण अवसर भी प्रदान किया। हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि महान सम्राट अशोक की समस्त धार्मिक नीतियाँ अन्य धर्मों के प्रति उसके ह्रदय जनित प्रेम, सद्‌भावना एवं निष्ठा से आप्लावित थीं। वह समस्त धर्मों के प्रति पूर्ण रूप से उदार एवं सहिष्णु था। प्रत्येक धर्म के विकास, स्थायित्व एवं सम्वर्द्धन के लिए केवल उसने कामना ही नहीं की अपितु भरसक प्रयास किया था।

सन्दर्भ :

१.जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी (एन.एस.) भाग–१, पृ. १५५–१८७, ऐसा लगता है कि इन विद्वानों ने ''भद्रबाहु चरित'' में मिलने वाली चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय की सूचना को आधार मानकर यह सम्भावना व्यक्त की हो।

२.वी० ए० स्मिथ, अशोक, पृ. २६

३.बरूआ, बेनी माधव, अशोक एण्ड हिज इन्सिक्रिप्शन्स, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९५५, पृ. २२४

४.दीघनिकाय, "चक्कवत सिंहनाद सुत्त", पृ. ५८

५.रायचौधरी, हेमचन्द्र, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट इण्डिया, छठां संस्करण, कलकत्ता, १९५३, पृ. २७२

६.भंडारकर, डी० आर०, अशोक, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९६०, पृ. ६६

७.सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्सिक्रिप्शन्स बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन (खण्ड–१), द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९५५, पृ. ४७ ''देवानांपिये हेवं आहा सातिरकेकानि अढतियानि वसानि य सुमि पाकास सके नो चु बाढ़ि पकते सातिलेके चु छवछरे य समि हकं संघ उपेते बाढ़ि च पकते''

८.वही, पृ. ७४

९.दीघनिकाय, मुनिगाथसुत्तन्त, राहुलोवाद सुत्तन्त, आदि।

१०.भंडारकर, डी० आर०, सेलेक्ट इन्सिक्रिप्शन्स, सारनाथ स्तम्भ लेख, पृ. ७२

११.वही, पृ. ६०

१२.वही, पृ. ६७

१३.वही, पृ. ६८

१४.बूलर, कॉपर्स इन्सिक्रिप्शनम् इण्डीकेरम, भाग–१, पृ. ६८

१५.मुखर्जी, आर. के., अशोक, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६२, पृ. ३१

१६.वही, पृ. ६३

१७.बरूआ, बेनी माधव, अशोक एण्ड हिस इन्सिक्रिप्शन्स, पृ. २२६

१८.वही, पृ. २३०

१९.सरकार, डी. सी., सेलेक्ट इन्सिक्रिप्शन्स, पृ. ५३

२०.वही, पृ. २४–२५

२१.वही, पृ. ३२–३३

२२.वही, पृ. २६, ''देवनंप्रियो प्रियदशि रज सर्वत्र इछति सव्र–प्रषंड वसेयु...''

२३.वही, पृ. ३२–३३

२४.वही, पृ. ३२, ''यथ कितिं सल वढ़ि–सिय सव्र प्रषंडनं''

२५.वही, पृ. २६

२६.वही, पृ. ७५–७६

२७.वही, पृ. ५७

• • •

इस्पातिका के आगामी अंक

◆ **सिनेमा और साहित्य** विशेषांक (दो अंको में क्रमश:)
प्रथमांक, वर्ष ३, अंक १, जनवरी–जून. २०१३
द्वितीयांक, वर्ष ३, अंक २, जुलाई–दिसंबर, २०१३
(कृपया उक्त अंक के लिए रचनाएं ३० नवंबर तक भेजें)

◆ **पारिस्थितिकी और साहित्य** विशेषांक :
वर्ष ४, अंक १, जनवरी–जून, २०१४

◆ **इतिहास दर्शन** विशेषांक :
वर्ष ४, अंक २, जुलाई–दिसंबर, २०१४

◆ **लोक साहित्य** विशेषांक :
वर्ष ५, अंक १, जनवरी–जून, २०१५

◆ **मानवाधिकार और साहित्य** विशेषांक :
वर्ष ५, अंक २, जुलाई–दिसंबर, २०१५

◆ शोधार्थियों, स्वतंत्र चिंतकों की रचनाएं सादर आमंत्रित हैं।
◆ अपनी रचनाएं खलनायक हिन्दी फॉन्ट में पेजमेकर ७ में (अधिकतम १५०० शब्द) टॉईप कराकर ई मेल करें : ispatikabiannual@gmail.com
◆ अपनी रचना का पी.डी.एफ. प्रारूप भी साथ में भेंजें।

उपन्यास अंश :

सोनवारे नरहरि

***जयनंदन**

इस क्षेत्र का सांसद मेखला भगत एक कार्यक्रम में भाग लेते हुए नक्सलियों द्वारा गोलियों से भून दिया गया था। उसके लिए श्रद्धांजलि सभा हो रही थी। सभा में उपस्थित सारे गणमान्य लोग उसकी शान में कसीदे पढ़ रहे थे। लेकिन एक खास वक्ता सोनवारे नरहरि की जब बारी आयी तो हवा उलटकर बहने लगी। सोनवारे बुलाये गये थे, चूंकि माना जाता रहा कि मेखला उन्हें अपना बहुत करीबी मानता था। जब भी उसकी कोई गुत्थी अटकती थी तो वह परामर्श करने सोनवारे नरहरि के पास चला आता था।

सबको उम्मीद थी कि सोन बाबू बहुत आत्मीय और अंतरंग भाषण देंगे। उन्होंने कहना शुरू किया तो उम्मीद सिर के बल खड़ी हो गयी, ''मेखला के मर जाने का बहुत गम मनाने की जरूरत नहीं है। वह कोई असाधारण प्रतिभा का आदमी नहीं था। उसके जैसे हजारों लोग हैं जो सांसद बन सकते हैं और उससे अच्छा काम दिखा सकते हैं। उसने अपनी दबंगई और अत्याचार से हजारों को अपना शिकार बनाया। सबने उसके मिट जाने की बद्दुआएं दीं। वह मारा गया तो हजारों खुश हैं। जिन्होंने उसे महान और बड़ा होनहार बताया, दरअसल वे उस परंपरा का पालन कर रहे हैं, जिसके तहत एक फालतू आदमी भी मरते ही गुणों की खान बन जाता है। मेखला बाहुबली था, बर्बर था, ढीठ था, दुष्ट था, क्रिमिनल था और निहायत ही घटिया आदमी था। जब अलग राज्य का आंदोलन चल रहा था, तो वह भी एक आंदोलनकारी था। उन दिनों वह ठीक था, इसी वजह से मेरे करीब था। सांसद बनने तक उसके रास्ते भटक कर जोर–जबर्दस्ती और आतंक की तरफ गहरे धंसते चले गये। पुराने संपर्कों के कारण वह मेरे पास आता रहा। मैं उससे नफरत करने लगा था, लेकिन उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता था, इसलिए उसका आना और उससे बतियाना मैं मन मसोस कर झेलता रहा।''

मेखला के चिलमचियों, चमचों, चारणों और चाटुकारों को अब असह्य हो उठा, अब तक उनका धैर्य इसलिए ठिठका हुआ था कि सोन बाबू इस शहर के एक चर्चित विचारक और समाजसेवी थे। अलग राज्य के आंदोलनकारियों के सलाहकार अथवा थिंकटैंक थे। चारणों को लग रहा था कि वे यह सब कहते हुए उपसंहार में जरूर चौंकानेवाले कुछ भावात्मक तथ्य रखेंगे। आसार जब क्रमशः जमींदोज होते गये तो पाँच–छह आयोजक लौंडों ने अपनी चप्पलें निकाल लीं और सोनवारे नरहरि पर बरसा दीं। (इन दिनों पूरी दुनिया में नाराज होने पर चप्पलें फेंकने का नया फैशन शुरू हो गया था। इस करतूत पर चप्पल खाने वालों से तुरंत माफी देकर बड़प्पन दिखाना भी स्थापित हो चुका था।) कुछ ने हाथापाई भी शुरू कर दी और कुछ ने थप्पड़–मुक्के भी जमा दिये। हो हल्ले के बीच सभा यहीं समाप्त हो गयी। सोन बाबू को कुछ समझदार लोगों ने बचा–बुचाकर वहाँ से निकाल लिया।

एस एफ – ३/११६, बाराद्वारी सुपरवाइजर फ्लैट्स, साकची, जमशेदपुर, मो. 09431328758

उनके लिए यह अप्रत्याशित नहीं था, इस तरह सच बोलने की कीमत वे कई बार चुकाते आये थे। अभी कुछ ही दिन पहले की बात थी। मेखला के साथ का एक लड़का गनौरी बोदरा नये राज्य के अनाड़ी, नवसिखुआ, बिकाऊ और कुर्सी भुक्खड़ विधायकों के बीच निर्दलीय होकर भी मुख्य मंत्री बन गया। चूंकि वह जानता था कि जीवन में उसे दोबारा यह अवसर नहीं मिलने वाला, इसलिए उसने दोनों हाथों से डेढ़–दो साल में राज्य को अधिकतम जितना लूट सकता था, लूट लिया। लेकिन बच्चू को लूटा हुआ धन पचाने की कला नहीं आयी। अपने बंधु–बांधवों के साथ पकड़ा गया और जेल में ठूंस दिया गया।

उसके जेल में रहते ही लोकसभा चुनाव की घोषणा हो गयी। लग रहा था कि इस चुनाव में वह किसी प्रकार की अखाड़ेबाजी नहीं कर पायेगा। मगर इस आशंका को निर्मूल करते हुए उसने अपनी उम्मीदवारी का पर्चा दाखिल कर दिया। सबकी राय थी कि उसकी जमानत जब्त हो जायेगी। शीघ्र ही यह राय तब डवांडोल होने लगी जब उसके पाले–पोसे नख से सिर तक अघाये लौंडे मैदान में उसके प्रचार के लिए टिड्डियों की तरह उतर आये और बिकने वाले लोगों की गैरत का सौदा कर–करके अपने पक्ष में समां बांध डाला। सोनवारे नरहरि अब तक स्थितियों पर ध्यान टिकाये हुए थे। उन्हें महसूस होने लगा कि हस्तक्षेप अगर नहीं किया गया तो यह शातिर लूटेरा जेल में रहकर भी मैदान मार लेगा। उन्होंने अपने साथ काम करने वाले चार–पांच लड़कों को लेकर उस क्षेत्र में डेरा जमा दिया और उसके खिलाफ कब्रें खोदने लगे। पोस्टर–पर्चा बांट–बांटकर जनसंपर्क किया जाने लगा कि अगर ऐसे भ्रष्ट और नाकारा आदमी की जीत हो जाती है तो इस क्षेत्र के लोगों के लिए एक शर्मनाक घटना होगी। उसके पाप और गुनाह की जन स्वीकृति मिल जायेगी, ऐसे में पूरी दुनिया यहां की जनता के विवेक का मखौल उड़ाने लगेंगे। उसने जो कुकर्म किया है, उसकी जगह जेल में ही हो सकती है, न कि संसद में।

खूब अच्छा प्रभाव पड़ रहा था टीम सोनवारे के प्रचार का, तभी एक दिन पूरी टीम लापता कर दी गयी। यह किसकी कारगुजारी हो सकती है, जानना किसी के लिए भी मुश्किल नहीं था। टीसो (टीम सोनवारे) के जो लड़के बाहर थे, वे खोजबीन में लग गये। पुलिस उन्हें आश्वस्त कर रही थी कि वे जल्दी ही उन्हें ढूंढ़ लेंगे और मुक्त करा लेंगे।

सोन का सबसे करीबी सहयोगी व सहचर था जलद प्रसाद। वे आपस में घंटों बातें करते थे। जलद शहर के एक प्रमुख प्रतिष्ठान विधाता स्टील में काम करता था। इस कंपनी के जन संपर्क विभाग में वह गृह पत्रिकाओं के संपादन का काम देखता था। सोनावारे वहां पार्ट टाइम अनुवादक के तौर पर दो–तीन घंटे के लिए प्रतिदिन जाते थे। धीरे धीरे जलद उनसे बेहद अंतरंग और प्रभावित होता चला गया था। उनके जीवन की सादगी, संघर्ष, मिशन, त्याग, उनके बौद्धिक क्षितिज, ज्ञान कोश तथा उनकी कुछ दिलचस्प व मासूम मूर्खताओं पर वह मुग्ध था। उनके संपर्क ने उसकी जीवन दृष्टि बदल दी थी और उसकी समझदारी का पैमाना काफी ऊँचा हो गया था। नौकरी के कारण उसके पास समय कम था, फिर भी हर विशेष और विषम परिस्थिति में वह उनका साथ देने के लिए तत्पर रहा करता था। उनका लापता हो जाना विषम ही नहीं एक अति विषम परिस्थिति थी। क्या पता गुंडे उनकी हत्या न कर दें, हालांकि मन में यह भरोसा भी था

कि इतने बड़े भयानक दुस्साहस करने की औकात इन गीदड़ों में नहीं हो सकती, चूंकि सोनवारे क्या चीज हैं, यह उन्हें जरूर पता होगा। सूबे की शीर्ष कुर्सी से लेकर गली—कूचों में सक्रिय मामूली कार्यकर्ता तक को इल्म है कि फटीचर से लगने वाले इस अधेड़ का भूमिगत विस्तार कहां—कहां तक है।

जलद को लगा कि यह समय पुलिस के जिम्मे छोड़कर चुपचाप बैठने का नहीं है। क्या पता मूर्खता में कुछ अनिष्ट ही न कर डालें ये लौंडे। अत: ब्रह्मास्त्र का इस्तेमाल कर लेना उचित रहेगा। ब्रह्मास्त्र के तौर पर उसके पास रुक्मी टेटे थी, जो हाईकोर्ट में अधिवक्ता थीं। एक बहुत ही काबिल वकील के तौर पर पूरे सूबे में उनकी पहचान थी। कई पेंचीदे मुकदमों को सुलझाकर वह कई बार सुर्खियां बटोर चुकी थीं। पुलिस, प्रशासन और राजनीति आदि सभी क्षेत्रों पर उसका गहरा प्रभाव था। सोनवारे जी की वह खास शुभचिंतक थी... उनके लिए हरदम कुछ भी कर गुजरने को तत्पर. .. उनके साधारणपन में अन्तर्भुक्त असाधारणपन पर पूरी तरह न्योछावर... उनकी संघर्षशीलता, उनकी जीवटता, उनकी निर्भीकता, उनकी बौद्धिकता आदि गुणों पर दीवानगी की हद तक सम्मोहित।

दोनों ने अपने कैरियर की शुरुआत जीवन बीमा निगम में नौकरी ज्वाइन करके की थी। वहीं दोनों ने एक—दूसरे को पहचाना था और क्रमश: काफी नजदीक होते चले गये थे। सोन उन्हीं दिनों यूनियन में सक्रिय होकर अग्रिम पंक्ति में तेजी से दाखिल हो गये थे। जहां कहीं भी संगोष्ठी, सम्मेलन, सभा होती, वहां वे मौजूद होते, सवाल करते, भाषण सुनते, भाषण देते। कर्मचारियों के हितों और उनकी मांगों के लिए हमेशा सजग और आंदोलन के लिए तैयार। यूनियन के हवाले से ही उन्होंने दुनिया में मौजूद बराबरी और गैरबराबरी का गणित समझा तथा उसके समाधान के तमाम सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया। जो रास्ता उन्हें ज्यादा से ज्यादा जनोन्मुख, कारगर और तार्किक लगा, वे उसके समर्थक दलों और कार्यकर्ताओं से गहरे जुड़ते चले गये। रुक्मी से वे अपना विचार बांटते थे और वह ध्यानमग्न होकर उन्हें सुनती थी। ऐसा ही कोई कहने—सुनने का भावविभोर क्षण रहा होगा जब रुक्मी ने उन्हें प्रपोज कर दिया था।

''सोन, मैं तुम्हें कैसी लगती हूं?''

''जाहिर है अच्छी लगती हो, तभी तो तुमसे हर बात शेयर कर लेता हूं। लेकिन तुम ऐसा क्यों पूछ रही हो?''

''पूछ रही हूं कि अगर मैं अच्छी लगती हूं तो मुझे भी तुम अपने गंतव्य पर पहुंचने में सहयात्री बना लो। मैं जब कल्पना करती हूं कि मेरा जीवन साथी कैसा हो, तो बार—बार मेरी आँखों में तुम्हारा बिम्ब उभर आता है।''

''रुक्मी, तुम सचमुच बहुत अच्छी हो, इतनी अच्छी कि मैं तुम्हारे लिए एकदम अनुपयुक्त चुनाव हूं। मेरा गंतव्य बहुत मुश्किल है, तुम्हें अपने साथ चलाकर थकाने का अपराध मैं नहीं कर सकता। मैं इस नौकरी में ज्यादा दिनों तक बना नहीं रह पाऊंगा। मुझे इस मुल्क के उन अस्सी—नब्बे प्रतिशत आम आदमियों के सरोकारों और मुश्किलों में शामिल होना है, जिनकी हालत लगातार बद से बदतर होती जा रही है।''

''क्यों, तुम्हें क्या लगता है मैं उन अस्सी—नब्बे प्रतिशत में नहीं हूं?''

''थे कभी, जब तुम्हारे बाबा कुली—कबाड़ी का काम करते थे। अब तो तुम एक अच्छी भली तनख्वाह वाली नौकरी में हो। व्यवस्थित और आरामतलब जीवन गुजार रही हो। तुम्हारे पास ऊंची तालीम है, कल को तुम्हें बहुत आगे जाना है।''

''तो यह कारण हो गया मेरे अयोग्य होने का?''

''नहीं रुको, अयोग्य तुम नहीं दरअसल मैं हूं तुम्हारे मुकाबले। मुझमें बहुत सारी बुराइयां हैं जो दिखती नहीं हैं। मैं तुम्हें ईमानदारी से बता रहा हूं कि संपूर्णता में मैं एक अच्छा आदमी नहीं हूं। कई मामलों में मैं एकदम कंफ्यूज्ड हूं। मैं एक अच्छा पति नहीं हो सकता। मुझे गुस्सा बहुत आता है, धैर्य की कमी है मुझमें, मतलब शार्ट टेम्पर हूं, चीखने लगता हूं। मेरे मुंह से गालियां बहुत निकलती हैं। मैं नास्तिक नहीं हूं, लेकिन मंदिर जाने, पूजा पंडाल जाने, घर में पूजा घर बनाने से मुझे सख्त चिढ़ है। ये सारे कर्मकांड मुझे बेहद बेवकूफी भरे लगते हैं। गृहस्थी वाला काम करना भी अच्छा नहीं लगता। सब्जी लाना, राशन लाना, दूध लाना, नियम और अनुशासन में रहना, परंपरा और रीति—रिवाज में चलना, त्योहार और जश्न मनाना, तफरीह करना, किसी को खुश करने के लिए कसीदे पढ़ना, नहीं होता मुझसे। बोलो, ऐसे आदमी के साथ क्या कोई निर्वाह कर सकेगा? मैंने इन्हीं कारणों से जीवन पर्यन्त अकेले रहने का संकल्प लिया हुआ है।''

''मैं अगर कहूं कि तुम इन तमाम आदतों के साथ मुझे स्वीकार्य हो तो? बल्कि मैं कहना चाहती हूं कि तुम अपनी इन्हीं आदतों के कारण मुझे और भी ज्यादा पसंद हो।''

''देखो रुको, जान बूझ कर खुद को ऐसी सुरंग में प्रवेश करा देना, जहां से वापसी मुमकिन ही न हो, अक्लमंदी नहीं है। तुम अगर मुझे वाकई प्यार करती हो तो मुझे बांधकर नहीं, मुझे मुक्त छोड़कर मेरी ज्यादा मदद कर सकती हो, हम एक—दूसरे के सान्निध्य का ज्यादा आनंद उठा सकते हैं। तुम यह मत समझना कि तुम्हारे निवेदन को अस्वीकार करके मैं कहीं से भी तुम्हें ठेस पहुंचा रहा हूं। दरअसल मैं भी तुम्हें उतना ही या कहीं उससे ज्यादा प्यार करता हूं, जितना तुम मुझे करती हो। यही कारण है कि मैं नहीं चाहता कि मेरी छाया से तुम्हारे भविष्य पर ग्रहण लगे।''

''तो ठीक है, तुम्हें पूरा हक है कि तुम अपने रास्ते जैसे चाहो चल सको। मैं भी यहां एक आजादी ले लेती हूं। मुझे भी पूरी उम्र अकेले रहना है। मेरे जीवन में तुम नहीं तो फिर कोई नहीं।''

''ऐसा करोगी तो तुम्हारे एकाकी होने का अपराध जीवन भर मेरे साथ लगा रहेगा। एकाकी जीवन बहुत नीरस होता है। हमारी जो सामाजिक संरचना है, उसमें कदम—कदम पर एक साथी की जरूरत होती है।''

''तुम्हें जरूरत नहीं है?''

''जरूरत है, लेकिन मैंने जो जीवन चुना है उसमें किसी का साथ लेकर न्याय नहीं कर पाऊंगा।''

''जानती हूं कि वकालत मैंने पढ़ी है, लेकिन जिरह में हमेशा मुझसे तुम्हीं जीतते रहे हो। ठीक है, इतना अधिकार तो दोगे कि जब मुझे लगेगा कि तुम्हारे रास्ते में कोई कांटा आ गया हो या पैर में चुभ गया हो तो मैं उसे हटा सकूं... कोई जख्म लग गया हो तो मैं मरहम लगा सकूं। भगवान न करे इसकी नौबत आये, लेकिन अब तक तो मैंने यही देखा है कि कांटे तुम्हारे रास्ते

में बिछने के लिए या फिर तुम्हारे पैरों में चुभने के लिए अनायास प्रकट होते रहते हैं।''

सोन बाबू ने अपनी आँखें बंद कर लीं, लगा जैसे कान के रास्ते कोई सुधा रस आत्मा में प्रवेश कर गया हो। अपने चेहरे पर एक कृतज्ञ और मुग्ध भाव लाकर उन्होंने कहा, ''आज मैं अपने को बहुत क्षुद्र महसूस कर रहा हूं रुको, काश, मैं तुम्हारे प्यार से भरे लबालब गागर को अपने हृदयतल में रखने लायक होता। कोई बीमार आदमी उपचार देनेवाले को भला कभी मना करता है। तुम जिस तरह की सदाशयता प्रकट कर रही हो, मेरा भी कभी–कभी मन होता है कि मैं क्यों नहीं स्थायी रूप से बीमार हो जाऊं?''

रुक्मी ने उसकी पेशानी को चूम लिया, ''नहीं सोन, मैं इतना स्वार्थी नहीं हूं।

जाओ, मैंने तुम्हें मुक्त किया, लेकिन तुम मुझे याद करो न करो, मैं तुम्हारे इर्द–गिर्द ही रहूंगी। भले ही समझौते के तौर पर मेरे जीवन में कोई दूसरा पुरुष भी क्यों न आ जाये।''

कुछ ही दिनों बाद रुक्मी ने जीवन बीमा निगम से इस्तीफा दे दिया और राँची चली गयी। वहां उसने उच्च न्यायालय में वकालत शुरू कर दी। ज्यादातर वह गांव के ऐसे–ऐसे गरीब–गुरबों के मुकदमे लड़ने लगी जो साधन के अभाव में बीच में ही मुकदमा छोड़कर अपना बहुत कुछ गवां देते हैं।

जलद ने उसे जब टीम सोनवारे के अपहरण की सूचना दी तो उसने पुलिस महानिरीक्षक से लेकर मुख्यमंत्री तक जमीन–आसमान एक कर दिया और उन सबकी कुर्सियां झकझोर दीं।

सोन और उनके साथी अगले ही दिन मुक्त हो गये। लेकिन उनके लिए यह एक गहरे सदमे का सबब बन गया कि उनकी टीम की लाख कोशिश के बाद भी बोदरा जेल से ही चुनाव जीत गया। उन्हें इसका गहरा दुख हुआ कि वे लोकतंत्र की जात–पात और खरीद–बिक्री से बनी गंदी तस्वीर पर जरा सा भी अपना प्रभाव नहीं डाल सके।

सोन को जहां चाहनेवाले असंख्य थे, वहीं उनके दुश्मन भी कम नहीं थे। खासकर बोदरा के वे निकटवर्ती लोग जो उसकी इफरात काली कमाई के तीन–तेरह करने वाले चट्टे–बट्टे थे। वे उनके पीछे लग गये थे और किसी भी तरह कैंची में लेकर उन्हें घसीटना चाहते थे। ढूंढते–ढूंढते उन्हें एक क्लू मिल गया। अपने पड़ोस में रहने वाले दो विपन्न आदिवासी परिवार की दो होनहार और मेधावी लड़कियों को उन्होंने अपने दो परिचित और विश्वासी उच्च अधिकारी के घर दिल्ली भिजवा दिया था, इस शर्त पर कि वे घर का काम लेने के साथ ही जहां तक पढ़ सकती है, उन्हें पढ़ायेंगे और प्रगति की सूचना से आगाह रखेंगे।

सोन बाबू अपने हिस्से का एक जरूरी दायित्व समझकर मोहल्ले के बच्चों को बुलाकर पढ़ाने का कुछ समय निकाल लेते थे। चूंकि वे जानते थे कि खस्ताहाल सरकारी स्कूल की खानापूरी पढ़ाई पढ़ने वाले इन बच्चों को ट्यूशन पढ़ने की हैसियत नहीं है। वे भाड़े का घर लेकर रहते भी थे प्राय: उन्हीं मोहल्लों में जहां निम्न तबके के लोग रहते थे। बच्चों को पढ़ाते हुए ही उन्हें किसी–किसी बच्चे में दूर तक जाने की कौंध दिखायी पड़ जाती थी और वे उनके लिए खास इंतजाम में लग जाते थे। इन्हीं में शामिल थीं सुलोना टुडू और लुपू एक्का। खूब चुलबुली, स्मार्ट और तीक्ष्ण बुद्धि। इनके इंटर पास करने तक तो दिल्ली से सूचना आती रही थी, साथ ही इनके

घर में हजार–पांच सौ का मनीआर्डर भी आता रहा था। कब इनसे लिंक टूट गया, इस पर वे भी ध्यान नहीं दे पाये और उसके घरवालों ने भी कभी कुछ नहीं कहा। साल–डेढ़ साल में तो वे घर भी आती रहीं और खूब प्रसन्नता प्रकट करती रहीं। सोन बाबू के प्रति कृतज्ञता जताते हुए उनके चरण जरूर स्पर्श कर जातीं।

इधर कुछ महीनों से झारखंड की लड़कियों की तस्करी की खबरें प्राय: सुनने–पढ़ने को मिलने लगीं। कुछ धंधेबाजों और दलालों द्वारा बहला–फुसला कर इन्हें यहां से ले जाकर बेच दिया जाता। ये या तो बंधुआ दाई बना ली जातीं या फिर जिस्मफरोशी के कोठे पर पहुंचा दी जातीं। इन दलालों के तार विभिन्न खाड़ी देशों तक से जुड़ गये थे। शेखों के हरम की जरखरीद बांदी के तौर पर इन निरीह लड़कियों के ऊंचे–ऊंचे सौदे भी होने लगे।

बोदरा के लुंपेनों ने सुलोना और लुपू के घरवालों को बरगला कर उनके माथे में यह घुसेड़ दिया कि सोनवारे ने तुमलोगों की बेटियों को दिल्ली में बेच दिया है। झांसा देने के लिए कुछ दिनों तक वहां से पैसे आते रहे और अब उनका कोई अता–पता नहीं है कि वे कहां हैं। सोनवारे एक घटिया और दुष्ट आदमी है जो यहां के भोले–भाले लोगों को शुभचिंतक का चेहरा दिखाकर बेवकूफ बनाता है।

घरवालों ने अपने समाज और रंग–रूप के होने के कारण इन लड़कों का कहा सच मान लिया। वे सोन बाबू से जवाब–तलब करने लगे। सोन ने फोन से दिल्ली संपर्क किया। वहां से बताया गया कि ग्रैजुएशन करने के बाद ही दोनों ने घर छोड़ दिया यह कहकर कि वे शादी करके अपना अलग गृहस्थी बसाने जा रही हैं। अभी वे कहां हैं इसकी उन्हें जानकारी नहीं है।

इस जवाब से घर वाले संतुष्ट नहीं हुए, या कहा जाये कि लड़कों ने उन्हें संतुष्ट होने नहीं दिया। उनकी जो मंशा थी, उसके तहत कुछ लड़कों ने गाली–गलौज करके उन्हें बेइज्जत किया, फिर थप्पड़–मुक्के बरसाकर पुराने खुंदक की आग भी थोड़ी ठंढी कर ली।

अगले दिन थाने में प्राथमिकी दर्ज करा दी गयी और वे शाम को गिरफ्तार कर लिये गये। थानेदार उनका वजन जानता था और यह इल्जाम उसके भी गले नहीं उतर रहा था, लेकिन सांसद के गुर्गों और उसके समाज के लोगों के दवाब के आगे वह मजबूर हो गया।

अगली सुबह स्थानीय अखबारों की यह सुर्खियां बन गयीं कि सोनवारे नरहरि आदिवासी लड़कियों की तस्करी के आरोप में गिरफ्तार किये गये।

जलद प्रसाद और टीसो के अधिकांश लड़के खबर पढ़ते ही हाजत पहुंच गये।

सोन बाबू ने उनके हैरान–परेशान चेहरे को देखते ही कहा, ''तुमलोग इतने घबराये हुए क्यों हो? मैं यहां हूं, इसका जिम्मेदार मैं खुद ही हूं। क्या पता जो इल्जाम मुझ पर लगाया जा रहा है, उसमें सच्चाई हो। जिन लोगों पर मैंने विश्वास किया था, उनलोगों ने ही कोई दगा कर दिया हो। यह तो सच है कि झारखंड की मासूम और निश्छल लड़कियों के साथ लगातार नाइंसाफी हो रही है। क्या पता, मैंने जिसे भेजा है, वे भी किसी चंगुल में फंस गयी हो।''

''सुना है, आपके साथ बोदरा के गुंडों ने मारपीट की है?''

''यह कौन सी नयी बात हो गयी, उनकी तो यह फितरत ही है।''

उनके ललाट पर बायीं आंख के ऊपर एक बड़ा सा गुम्मड़ दिखाई पड़ रहा था, जो निश्चय ही चोट लगने से उभर आया था।

''आपका तो इलाज होना चाहिए और इनलोगों ने आपको हाजत में बंद कर दिया है।'' जलद ने गुम्मड़ पर नजर टिकाते हुए कहा।

''नहीं... नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूं, तुमलोग चिंता मत करो।''

जलद ने अपने थैले से निकालकर एक टिफिन बॉक्स थमाया। ''घर की बनी चपातियां हैं, आप खा लीजिएगा। मैं अभी आया।''

जलद ने रुक्मी को फोन से पूरी जानकारी दी। वह सब कुछ छोड़—छाड़कर टाटा के लिए कूच कर गयी।

एसपी ने जमानत देने से असमर्थता जता दी। शायद ऊपर से कोई दबाव दे रहा था। इसके साथ ही चूंकि अर्से से लड़कियों की तस्करी और उनके साथ हो रहे अमानवीय कृत्य की वारदातें सुर्खियां बनी हुई थीं, जिससे पुलिस प्रशासन और सरकार लगातार एक सिरदर्द झेल रही थी। इसलिए वे इसे हल्के से लेने की स्थिति में नहीं थे। एसपी ने बताया कि बेल कोर्ट से ही लेना संभव होगा। रुक्मी जलद को कुछ जरूरी हिदायतें थमाकर राँची लौट गयी। वह सोन से मिलकर अपनी भावना और सहानुभूति के मर्म को आर्द्र नहीं करना चाहती थी। राँची लौटकर उसने दिल्ली के लिए पहला फ्लाइट ले लिया। सुलोना और लुपू को किस अधिकारी के पास भिजवाया गया है, वह जानती थी।

दिल्ली से लौटने में उसे तीन दिन लग गये। इस बीच उसने उन दोनों लड़कियों को सुराग दर सुराग टोहते हुए ढूंढ लिया और उन्हें अपने साथ लेकर आ गयी।

जलद और टीसो रुक्मी मैम की सूझबूझ भरी अचूक पहलकदमी देखकर अभिभूत हो गये। लुपू और सुलोना के साथ उनके दो छरहरे और शिष्ट से दिखनेवाले पति भी ले आये गये थे। कोर्ट में जब सोन की पेशी हुई और वे कठघरे में खड़े हुए तो रुक्मी ने खुद ही वकील की भूमिका निभाते हुए दोनों लड़कियों को पेश कर दिया।

दोनों ने लगभग विलाप करते हुए से स्वर में कहा, ''हमने तो अपने घरवालों को हर जानकारी दे रखी है, अपनी शादी के बारे में भी। गलती ये हो गयी कि हमने सोन अंकल को इत्तिला नहीं किया। मेरे घरवालों ने किसी के बहकावे, लालच या दबाव में आकर जान—बूझकर इन पर तोहमत मढ़ा है। हम बेहद शर्मिंदा हैं कि हमारे चलते संत जैसे अंकल को इस तरह जलील होना पड़ा। इन्होंने तो हमारा जीवन संवार दिया, नर्क से निकालकर स्वर्ग की राह दिखा दी, बदले में हमने इन्हें तोहफा दिया जेल की फजीहत झेलने का। धिक्कार है हम पर।''

सोन जब घर पहुंचे तो दोनों लड़कियां उनके पैरों पर लोट गयीं और फूट—फूटकर रोने लगीं। लुपू ने कहा, ''हम आपके अपराधी हैं अंकल, मेरे घरवालों ने जो किया है, उन्हें हम कभी माफ नहीं करेंगे।''

सुलोना ने कहा, ''हमने पिछले महीने ही उन्हें पैसे भिजवाये हैं। हम दोनों वहां हाई स्कूल में टीचर हो गये हैं और ये हमारे हसबैंड हैं। ये हैं सेतराम हेम्ब्रम मेरे पति और ये हैं कुंजल लकड़ा

लुपू के पति। दोनों सरकारी नौकरी में हैं।''

सोन बाबू ने निश्छल भाव से दोनों को उठाया और छाती से लगा लिया। कहा, ''तुमलोग चिंता न करो बेटे, कुछ नहीं हुआ मेरे साथ। तुमलोगों ने मौके का भरपूर फायदा उठाया और एक अच्छा मुकाम हासिल किया, मुझे बहुत खुशी हो रही है। अपने—अपने घर जाओ और घरवालों से खूब प्यार से मिलो।''

रुक्मी चुपचाप सामने बैठी हुई उन्हें एकटक देख रही थी। सोन ने कहा, ''बहुत भाग—दौड़ करनी पड़ी न तुम्हें, फिर तुम मुझे गुस्से से देखो न, प्यार से क्यों देख रही हो?''

''ये लल्लू—पंजू—नत्थू—खैरू तुम पर हाथ उठाते हैं, मुझसे सहा नहीं जाता। क्यों रहते हो ऐसे मोहल्ले में।''

''इनके जैसे लोगों को ही मेरी जरूरत है रुको। उनमें सही—गलत में फर्क करने का विवेक पैदा हो, यही तो हमें करना है।''

मुग्ध भाव से कुछ पल निहारती रही रुक्मी। फिर अंदर जाकर एक कटोरे में गर्म पानी ले आयी। ''पेशानी में उगे गुम्मड़ अब तक पिचके नहीं हैं, लाओ इस पर सेंक लगा देती हूं।''

कपड़े भिंगो—भिंगो कर सेंक लगाते हुए उसने पूछा, ''चोट तो और भी कई जगह लगी होगी, डॉक्टर को बुला दूं?''

''नहीं... नहीं, उसकी कोई जरूरत नहीं है। मैं बिल्कुल ठीक हूं। तुम्हें एक बात बतानी थी?''

''हाँ बोलो।''

''लच्छू बड़ाइक की बेटी झुल्लो और मोहन माझी की बेटी पुजिया हैं, पढ़ने में बहुत मेधावी और विलक्षण। काफी अच्छा अंक लेकर मैट्रिक पास कर गयी हैं, अब आगे पढ़ नहीं पायेंगी। मां—बाप इनकी शादी करके गोबर पाथने और चूल्हा फूंकने में लगा देंगे। मुंबई में अपने पुराने साथी मेघा सावरकर और शिवराम परांजपे हैं। 'मजदूर यूनियन की कुंद होती धार' पर यहां जो सम्मेलन हुआ था, उसमें मेघा भी आयी थी और शिवराम भी। मैंने तुम्हें मिलवाया था उनसे। दोनों एक अर्से से कह रहे हैं कि उन्हें घर संभाल देने वाली दो सुघड़ लड़कियां चाहिए। मेघा के पति जब से गुजरे, समाज सेवा में ही लगी रहती हैं और शिवराम दम्पति को तो कोई देखनेवाला नहीं है। उनके दोनों बेटे अमेरिका में जाकर बस गये हैं। मेघा और शिवराम ने कह रखा है कि जो भी बच्ची आयेगी, वे उसे अपनी बेटी की तरह रखेंगे और जहां तक वे पढ़ना चाहेंगी, वे पूरा साथ देंगे। सोचता हूं कि अगले महीने दोनों को मुंबई भेज दूं।

रुक्मी टेटे उनकी बच्चे जैसी निर्विकार—निस्संग और निर्द्वन्द्व आंखों को देख रही थी, जहां किसी भी अपमान या बदसलूकी का कोई मलाल न था।

•••

दो गज़लें

*जगमोहन

१.

पूछ रहे हैं सब ये हमसे, क्यूं मुस्काना छोड़ दिया है
क्या बतलाएं कि अब हमने दर्द छुपाना छोड़ दिया है
गर्म हवाएं चलती हैं और रेत सी उड़ती रहती हैं
लहरों ने भी अब साहिल पर आना जाना छोड़ दिया है
बारिश की भीगी रातें, वो हम–आगोशी के लम्हे
यादों ने आइने में इक अक्स पुराना छोड़ दिया है
क्यूं भर आती हैं आँखें क्यूं आँसू बहते रहते हैं
पलकों ने अब इस दरिया पर बाँध बनाना छोड़ दिया है
बाहर का सारा कोलाहल खामोशी में बदल गया है
अंदर के सन्नाटों ने भी शोर मचाना छोड़ दिया है
सजा हुआ ये घर मेरा क्यों बेगाना सा लगता है
बच्चों ने दीवारों पर तस्वीर बनाना तस्वीर बनाना छोड़ दिया है

२.

जब भी हमसे मिले कभी वो इधर–उधर की बात करे
अपने दिल का हाल कहे ना दुनिया भर की बात करे
पीने वाले बात करें मय–मीना की, मयखानों की
तेरा दीवाना बस तेरी एक नजर की बात करे
समझ नहीं पाऊँ मैं यारो उसकी इनायत का मतलब
कैसे कैसे ख़्वाब दिखाए किस मंजर की बात करे
किससे पुछूं कौन बताए क्यूँ इतना बेचैन हूँ मैं
प्यासा सागर किस दरिया की शोख़ लहर की बात करे
तेरे रुख़सारों को शायद ख़्वाब में देखा है उसने
एक परिंदा सहरा में गुल और समर की बात करे
अपने–अपने रस्ते सबके अपनी–अपनी मंजिल है
कौन है ये दीवाना जो इस यायावर की बात करे
जाने क्यूँ हर कोई मुझसे उखड़ा उखड़ा रहता है
जिसके हाथ में पत्थर आए मेरे सर की बात करे

*

विश्वास

*अमित परमार

हजार में एक है जमालुदीन
लोग उसका विश्वास करते हैं
काटने हों माडो के बांस
या लगाना हो गीलवा
महजिद की पछिमाही देवाल पर
दूहनी हो एकहथ गाय
या साफ करना हो छठ घाट
हर जगह उपस्थित है जमालु
इस उर्स पर भी
उसे ही डालनी थी पहली माला
पीर बाबा को,
हर बार की तरह
लेकिन, जमलुआ बदल रहा है
सुना है पीर बाबा ने
नसीहत भी दी है तरक्कीपसंदों ने, उसे
महजिद जाकर कसमे खाने
और, दूर रहने की काफिरों से
आखिर 'लोग' विश्वास करते हैं उसका
और वह! रात भर
मलता रहा खैनी
और विचार भी
क्या कहेगा! सिगासन बो से नेवता के बारे में,
हांक लगाएंगे तेजा काका
जब गाय दूहने के लिए
और नही पहुंचेगा जब अछूनमी का बेसन
जटाई ओझा के घर..!
बधार में बैठा हुआ जमलुआ,
एक ही दिन में
मनबढ़ और मोटी चर्बी वाला हो गया...
पीर बाबा को माला डाल रहा है,
भयातुर जमालुदीन,
पीठ ठोंकते हैं पीर बाबा,
बहुत नेक है जमालुद्दीन
तभी तो सब विश्वास करते हैं...
इस्तेमाल और विश्वास का फर्क
समझने लगा है जमालुद्दीन

•••

*हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, छत्तीसगढ़, मो. 07587036695

कविता :

अब क्या बचा है गाँव में

*एस. एन. सिंह

सिवाय दादी के संदूक,
माँ के आलमीरा के
वो भी, पत्नी के 'सेल्फ'
और बहू के 'लॉकर' के समक्ष
दीन–हीन–उदास
संदूक भी खाली–खाली
सब भईया ले गये बम्बई
कुछ छोटका ले गया चेन्नई।
हाँ, एक पोटली है;
जिसमें दादी के
हर मर्ज की दवा,
माँ का सिंघोड़ा,
दादा जी की पगड़ी,
बाउजी का अचकन, बस्स...
और कुछ तो नहीं है गाँव में।
दादा जी के खुदवाये कुएँ का
चबूतरा भँस गया है,
अब वहाँ कोई पानी नहीं भरता,
उसका पानी अब
आँख धोने के काम आता है
सुना है, धोने से
मोतियाबिन्द ठीक हो जाता है।
बाउजी का रोपा हुआ आम
बच्चे–बूढ़े सभी का
आघात सहते–सहते
डरा–सहमा–सिकुड़ा, उजाड़–सा
हो गया है
अब मंजर भी नहीं लगता
फिर क्या है गाँव में?
हाँ, दालान के ओसारे
कोने में ताक पर रखी
दादाजी की चिलम,
खूंटी से लटकती
बाउजी की छड़ी,
एक कोने उल्टी पड़ी पतीली,
कालिख पुते कुछ बर्तन
चूहों का ग्रास बन चुकी रजाई,
मुरझाया तुलसी का पौधा
और कहाँ कुछ है गाँव में?
पूरे घर की परिक्रमा कर ली
भारी मन से वापसी की तैयारी
तभी तेज झोंका आया पानी का
मिट्टी की सौंधी गंध
भर गई नस–नस में
जैसे मेरा लुका–छीपी, धड़ा–पकड़ी,
दोलहा–पाती, गिल्ली–डंडा,
चिक्का–कबड्डी, डोर–पतंग,
कंचा–कौड़ी, चोर–सिपाही,
फगुआ–कजरी, बिरहा–चैती,
छठ का दऊरा, सतुआनी का मेला,
घरभरन की बेटी का मंड़वा
बंसी काका के बेटे का तिलक,
ब्रह्म बाबा की पिण्डी,
झड़बेरी से घिरा भूतहा कुआँ
सब बरस रहा है–
आँखों के रास्ते।

*गोविंदपुर हाउसिंग कॉलोनी, जमशेदपुर १५, मो. 09835766934

मैं भींगता रहा
और सुनता रहा
दादा जी का आदेश
बाउजी की डांट–डपट,
दादी की मनुहार
माँ का प्यार,
भाभियों की छेड़–छाड़।
महसूस हुआ
तुलसी का मुरझाया पौधा
फिर से लहलहा उठा है।
लगा, अभी भी बहुत कुछ
बचा है गाँव में
सच!
बहुत कुछ बचा है गाँव में।

•••

कविता :

दातून बेचनेवाली के बहाने

*आशुतोष कुमार झा

अधेड़, आदिवासी स्त्री
सिर पर दातून का बोझा लिए,
जा रही है जमशेदपुर–बाजार, आज
इतवार
होगी बाबुओं की छुट्टी, खूब
सजेगा बाजार
ट्रक के घिसे टायर सी देह
जरूरत का चौथाई कपड़ा
नंगे पाँव
आस–पास के इलाकों
या जंगली गाँव से
पैदल ही चली आती हैं
दस–पन्द्रह मील।
सखुआ, नीम, करंज
रूपये में चार–तीन–दो के भाव
बिकेंगे साकची बाजार में।
हाँफती–भारी गट्ठर लिए
बढ़ाती जाती है पाँव
पीछे–पीछे
सखुआ के पत्तल, ठोंगा लिए बेटी
और खटिया लिए पति भी
धकेली जाती हुई–सी गति में
बढ़ रहे हैं साकची की ओर
साढ़े सात बजे सवेरे ही
अपना खौफ दिखा रहा है
जेठ का सूरज
पसीने और थकान के बावजूद
इन तीन जोड़ी कदमों को डर है
देर होने पर
नहीं मिलेगी साप्ताहिक बाजार में
अच्छी जगह
और बिक नहीं पाएंगे
खटिया, दतुवन, पत्तल और ठोंगे।
बिना पैसों के
न भात, न हड़िया।
सौ साल पहले कोई शहर नहीं था,
जमशेदपुर –
उजाड़ डाले गए– गाँवों का समूह था
जहाँ बसते थे
इन जैसे आदिवासी–वनवासी।
आज हर इतवार
उन मूल निवासियों के वंशज
खोजते हैं
जमशेदपुर में
दतुवन, पत्तल आदि बेचने की
सर्वोत्तम जगह।
पिछले सौ सालों में
सारे देश में
पैदा हो चुके हैं
सैकड़ों जमशेदपुर
और विकास के नाम पर
उजड़ने को अभिशप्त
आदिवासी परिवारों की फेहरिश्त
सभ्यता की चौहद्दी से
ज्यादा बड़ी हो गई है।

*के/2/2005 ट्यूब कॉलोनी, बारीडीह, जमशेदपुर 17, मो. 09431372098

पुस्तक समीक्षा :

मुक्ति का कंकरीला पथ

*जय कौशल

प्रो. अभय मौर्य का उपन्यास 'मुक्ति–पथ' पहली नजर में बहुत सारी घटनाओं का कोलाज–सा लगता है, इसके बावजूद इस रचना की कहन (way of presentation) बहुत अच्छी है। हरियाणा के गाँवों के आपसी सम्बंधों की बारीक पड़ताल के साथ जगह–जगह वहां की भाषा का खूबसूरत प्रयोग इसे और जीवंत बनाता है। वहाँ प्रचलित बाल–विवाह के प्रसंग, खेती–बाड़ी के हालात और खासकर खाप पंचायत की बेहरम मनमानी (जो आजकल हरियाणा में बेतरह कुख्यात है) का चित्रण उपन्यास को समकालीन संदर्भों में उल्लेखनीय बनाता है।

'मुक्ति–पथ' मायावती की सोशल इंजीनियरिंग की सधे और सटीक शब्दों में सार्थक आलोचना तो है ही, अकादमिक संस्थानों में फल–फूल रही चापलूसों की फौज का भी इसमें अच्छा चित्र खींचा गया है। महेश, जो कि दलित परिवार से संबंधित युवक है और नफेसिंह का चचेरा भाई है, पर दलित चेतना से पूरी तरह हीन है, यहाँ तक कि वह बेहद स्वार्थी, धोखेबाज और दलित आंदोलन को तोड़ने वाला व्यक्ति है। उसका पूरी तरह नैतिक पतन हो चुका है। वह जहाँ भी जाता है नई–नई लड़कियों का शोषण करने से बाज नहीं आता। गौरतलब है कि महेश नामक यह व्यक्तित्व इस कदर कामांध है कि जानवरों तक से सेक्स–संबंध बना लेने में उसे कोई गुरेज नहीं है। यहाँ तक बात समझ में आती है। पर जब महेश अपने बड़े भाई गीहड़ा को जल्दी से जल्दी उसकी शादी कर देने को कहता है तो गीहड़ा पहले तो उसे पढ़ाई–लिखाई में मन लगाने को कहता है पर जब महेश नहीं मानता तो गीहड़ा उसे अपनी स्वयं की पत्नी यानी महेश की भाभी सौंप देता है और दरांती लेकर अपना लिंग काट लेता है ताकि वह स्त्री के लायक ही न रह जाए। गीहड़ा द्वारा ऐसा करने के पीछे कोई ठोस कारण नजर नहीं आता। ना ही कथानक के विकास में इस घटना का कोई योगदान है। उपन्यासकार ने इस प्रसंग को क्यों रखा है, समझ में नहीं आता।

इस रचना में अंबेडकर और मार्क्सवादियों के बीच उभरे मतभेदों की न केवल बेहतर पड़ताल की गई है बल्कि विमर्श के इस महत्वपूर्ण हिस्से को सार्थक और सर्जनात्मक तेवर भी प्रदान किया गया है। वर्ण बनाम वर्ग–संघर्ष में मुक्ति के पथ का सही रास्ता तलाश रहे हैं 'मुक्ति–पथ' के पात्र। वास्तव में अंबेडकरवादी एवं मार्क्सवादी मिलकर ही भारत में जाति–पांति की दीवार को गिरा सकते हैं, वरना अपनी–अपनी लड़ाई कहकर अलग–अलग लड़ने से न तो सदियों से चली आ रही यह समस्या खत्म हो पाएगी और न ही भारत में सौमनस्य कायम हो सकेगा। उपन्यास का एक पात्र नफेसिंह कहता भी है : ''दलित मुक्ति के पथ पर चलते हुए हमें अपने दोस्तों और दुश्मनों की ठीक से पहचान करनी होगी। हम अकेले दलित–उद्धार की लड़ाई

*सहायक प्राध्यापक : हिंदी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला, मो. 09436479618

नहीं लड़ सकते। हमें अधिक से अधिक मित्रों और सहयोगियों को साथ लेकर चलने की जरूरत है। जाहिर है, समाज की सभी जातियों और धर्मों के शोषित और दलित लोग हमारे स्वाभाविक साथी हैं, इसलिए हमें दलित अस्मिता को वर्ग–चेतना से जोड़ना है।'' उपन्यास में कहा गया नफेसिंह का यह कथन गैर–बराबरी के खिलाफ और समतावादी समाज की स्थापना का सपना लेकर चल रहे सभी दलित विमर्शकारियों के लिए उनके मुक्ति–पथ का बीजकथन हो सकता है। पूरा उपन्यास 'जाति क्यों नहीं जाती?' के प्रश्नों से जूझ रहा है। चाहे विश्वविद्यालय में अध्यापक बन जाइए, चाहे आईएएस या कुछ और, मनुष्य की जाति नहीं मरती बल्कि उसके ओहदे से पहले रहती है। जब डॉ. के आर. नारायणन देश के राष्ट्रपति बने, प्रो. सुखदेव थोरात यूजीसी के चेयरमैन और के. जी. बालकृष्णन सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस, तब मीडिया ने उन्हें क्रमशः पहला दलित राष्ट्रपति, पहला दलित चेयरमैन और पहला दलित चीफ जस्टिस ही कहा था। रेखा–नफेसिंह प्रसंग के माध्यम से यह उपन्यास भी इसे गहराई से उठाता है। हालांकि नफेसिह विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं पर चूंकि दलित जाति से हैं, इसलिए किसी तथाकथित उच्च जाति की लड़की से उसे प्रेम करने तक का अधिकार नहीं है, शादी तो दूर की चीज है। इस क्रम में रेखा–नफेसिंह प्रेम–प्रसंग बहुत रोचक बन पड़ा है, इसमें उच्च–जाति के होने के अहंकार–बोध पाले परिवारों की कलई खोलकर रख दी गई है। रचना का अंतिम हिस्सा भारत में समकालीन आरक्षण की राजनीति पर प्रकाश डालता है कि एक–दूसरे के साथ मिलकर रहने और काम करने वाले ओबीसी और सवर्णों को भी मंडल कमीशन ने कैसे एक–दूसरे का विरोध ी बना दिया।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, इस रचना की कहन बहुत रोचक है पर ऐसा लगता है कि उपन्यासकार जल्दबाजी में हैं। जो कहना है, उसे जल्दी से पेश कर देना चाहते हैं। उपन्यास पढ़ने के दौरान कई बार ऐसा लगता है। जैसे– छात्रों और वार्डेन से संबंधित प्रसंग। जब छात्रों द्वारा वार्डेन से कम मात्रा में और घटिया स्तर का खाना मिलने की शिकायत की जाती है तो वार्डेन व्यंग्य भरे लहजे में कड़वाहट के साथ कहता है : 'अच्छा! घर में तो घास खाते थे, यहाँ पकवान माँगने लगे हो?' इस पर छात्रों द्वारा वार्डेन के खिलाफ तुरंत नारेबाजी शुरु कर दी जाती है, मानो वे वास्तव में इसी के लिए निकले थे। इसके बावजूद एक जागरुक पाठक को यह रचना इसलिए ज्यादा झिंझोड़ती है क्योंकि इसमें वास्तविकता के धरातल पर उपजी आज की परिस्थितियों पर न केवल गंभीरतापूर्वक विचार–विमर्श किया गया है, बल्कि उनके यथार्थवादी समाधान खोजने का भी ईमानदार प्रयास किया गया है। यह रचना भारत में दलित एवं प्रगतिशील आंदोलन की दशा एवं दिशा दोनों की गहरी पड़ताल करती नजर आती है। यहाँ के हिन्दुवादी संगठन दलित आंदोलन को कुचलने के लिए किस हद तक जा सकते हैं और तो और महेश जैसे कुछ भटके हुए दलित युवकों का भी अपने अपने घृणित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं, इसे उपन्यास में बेबाकी से पकड़ा गया है। हमें ऐसे महेशों से न केवल सावधान रहना है, बल्कि उन्हें राह पर भी लाना होगा।

इस रचना का अंत थोड़ा नाटकीय बल्कि फिल्मी हो गया है। जैसे– विधायक द्वारा

रेखा और नफे के बच्चे मुक्तासिंह को उठाने के लिए आना ताकि उसे रेखा के पिता की जायदाद मिल सके। उसके द्वारा बच्चे की कनपटी पर रिवाल्वर तानकर जायदाद के कागज माँगना, इस क्रम में रेखा के पिता गुप्ता जी द्वारा बच्चे को खींचकर अपने पीछे छिपा लेना, हड़बड़ी में विध ाायक द्वारा गोली चलाना और भाग निकलना... अंततः गुप्ता जी का अपनी बेटी व दलित–संदर्भ में प्रायश्चित करते हुए मरना... वाकई पूरा प्रसंग फिल्मी हो गया है, पर इससे रचना अस्वाभाविक नहीं होने पाई है। बहरहाल, अपने सम्पूर्ण कलेवर में यह उपन्यास न केवल पठनीय है, बल्कि दलित–मुक्ति आंदोलन के लिए मददगार भी बन पड़ा है।

समीक्ष्य ग्रन्थ : मुक्तिपथ (उपन्यास) : अभय मौर्य
.... प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०० ई.
मूल्य रू. /–

•••

दीन की बेटियों के हुकूक (*हंस* का वार्षिकोत्सव)

*अजय मेहताब

हर वर्ष की तरह इस बार भी ऐवाने–ग़ालिब खचाखच भरा हुआ था। हर तरफ गहमागहमी, बहस की जमीन तैयार होने को थी। कुछ तो पहले दो दिनों से रुक–रुक कर हो रही बारिश तथा उससे होने वाली उमस का असर था तो कुछ कार्यक्रम के विषय का। हर तरफ यही था– दीन की बेटियाँ। कार्यक्रम में शिरकत करने वालों में खास मेहमान के तौर पर पड़ोसी मुल्क पाकिस्तान से जाहिदा हिना और किश्वर नाहिद थीं। वैसे आना तो मुख्तारन माई को भी था मगर 'किन्हीं' कारणों से वो आ नहीं पाईं।

संचालन के दौरान और विषय–प्रवेश में शीबा असलम फ़हमी ने इस विषय की भूमिका रखी तथा *हंस* के अपने बहुचर्चित कॉलम 'जेंडर जिहाद' की समसामयिक प्रासंगिकता का उल्लेख भी किया। पहले वक्ता के रूप में तरक्कीपसंद अफ़सानानिगार जाहिदा हिना मंच पर आईं। उन्होंने पाकिस्तान में बदतर हालत में जी रही औरतों की एक जीती–जागती तस्वीर सभागार में रख दी। उनके वक्तव्य से पाकिस्तानी औरतों की आजादी के दावे पर सवालों की तलवारें लटकने लग गईं। बकौल जाहिदा : ''जब भी आईन ने औरतों को कोई बुनियादी हक मसलन दोहरे वोट का अधिकार या बराहेराज़ इंतेख़ाब का हक दिया, तब–तब मौलवियों का हंगामा हुआ। अगर उन्हें आज़ादी मिलेगी तो फंडामेन्टलिस्टों से लड़कर ही और इसमें आईन ज़रूर मदद करेगा।'' उन्होंने कहा कि १९७१ से ७७ के दौरान औरतों को राजनीति में खुलकर हिस्सा लेने का मौका मिला। उसके फौरन बाद ही जनरल जिया–उल–हक़ की हुकूमत आ गई और हुदूद जैसे कानून बने। मतलब कि बलात्कार का शिकार हुई महिला की अकेली गवाही गुनहगार को सज़ा दिलाने के लिए काफ़ी नहीं है। और १९८८ को इंतेखाब के सारे हुकूक उससे छीन लिये गये। इन्हीं सबके बीच उन्होंने साफिया बीबी के केस पर भी रौशनी डाली जिसका बलात्कार बाप–बेटे ने मिलकर किया था। जिया–उल–हक़ ने साफिया बीबी के हक में कोई गवाह न होने के कारण उसे संगसारी (पत्थर मार कर मौत) की सज़ा सुनाई। मगर लोगों के विरोध के चलते उन्हें अपना फैसला वापस लेना पड़ा। उन्होंने ये बात भी बताई कि अभी भी कई गाँवों में मौलवियों की धमकियों के कारण महिलायें वोट नहीं डाल पातीं। मौलवियों को राजनीतिक पार्टियों का सपोर्ट भी हासिल है। उन्होंने बलुचिस्तान के रिपोर्टर मंजूर सोलंगी के एक रिपोर्ट के हवाले से कहा : ''बलुचिस्तान के कई इलाकों में औरतों को गोश्त खाना मना है। ऐसा तब तक है, जब तक उसकी शादी नहीं हो जाती। शादी के बाद इसका फैसला करने का हक उसके शौहर को होगा। मर्द तरह–तरह के गोश्त लाते हैं, औरतें उन्हें पकाती हैं। इसके पीछे तर्क यह है कि गोश्त खाने से औरतें करप्ट हो जाती हैं क्योंकि वे खुद एक लजीज़ गोश्त हैं।''

उन्होंने बताया कि पाकिस्तान में खाप के समकक्ष जिर्गा सक्रिय है जो उटपटांग फैसले सुनाने के लिए कुख्यात है। नमूने के तौर पर 'भाई के सामने बहन का सामूहिक बलात्कार, भाई को दी गई एक सज़ा है।' वे बताती हैं कि हालांकि सुप्रीम कोर्ट ने इन पर प्रतिबंध लगाया हुआ

*सह संपादक : परिकथा, सूरजकुण्ड, नई दिल्ली, मो. 09654840693

है फिर भी गुपचुप मीटिंग करते हुए ये पाये जाते हैं। दूसरी वक्ता के रूप में मशहूर कवयित्री किश्वर नाहिद मंच पर आईं। अपनी मशहूर नज़्म 'हम गुनहगार औरतें' से उन्होंने शुरुआत की। उन्होंने कहा : ''अन्ग्रेज हमें दो तरह की आज़ादी दे गया था– एक वोट डालने की, दूसरी Equal Wages की। मगर हमें तालीम का हद भी दे गया। वो तालीम भी देता था तो ऐसी जिससे कि सिर्फ क्लर्क पैदा हो सकें, अफसर नहीं। पाकिस्तान ने भी वही किया। पाकिस्तान ने भी औरतों को पढ़ने–लिखने से महरूम तथा अपने घर तक महदूद रखा। १९७९ में आये 'हुदूद ऑर्डर' का उन्होंने भी ज़िक्र करते हुए कहा कि 'ये ऐसा कानून था जिसके तहत औरत अगर किसी अजनबी मर्द के साथ किसी भी रूप में पाई जाए तो उसे सरेआम दस कोड़े लगाकर जेल में डाल दिया जाता था। जो मर्द अपनी पत्नी या माँ से छुटकारा चाहता था वो ऐसी ही शिकायत से उन्हें जेल में डलवा देता, फिर ना ही जुर्माना भरता, ना ही उनकी जमानत करवाता। ऐसे हालात में दो महीनों के बाद मर्द अपनी बीबी से आजाद हो जाता था और दूसरा निकाह कर लेता था।' उन्होंने १९७६ में आये एक और कानून की चर्चा की जिसमें अहमदियों को ग़ैर–मुस्लिम करार देते हुए उनकी मस्ज़िदें तोड़ी गईं। एक ११ साल के बच्चे को सिर्फ इसलिए सज़ा दी गई क्योंकि उसने रसूलल्लाह का नाम ग़लत तरीके से लिखा था। उन्होंने मुल्लाओं की कलई खोलते हुए वरीनो–शवारा (बाल विवाह) का भी जिक्र किया। उन्होंने परसों–तरसों की घटना का जिक्र करते हुए कहा कि एक लड़की को जबर्दस्ती तेजाब पिलाया गया। इसके अलावा औरतों के जुलूस पर आये दिन तेजाब फेंकना आम बात है। मग़र सारी मुश्किलातों के बीच उन्होंने कई सफलताएं भी गिनाईं। सबसे बड़ी सफलता जो इन्कलाबी औरतों ने लड़कर हासिल की, वो ये कि पाकिस्तान में सेक्सुअल हरेस्मेंट के ख़िलाफ़ कानून बने और इन कानूनों ने मौलवियों का भी समर्थन हासिल किया। चौंकाने वाली बात ये कि, उस जूरी में दो मर्द और एक औरत को भी शामिल किया गया। और अब तक ऐसे केस में आठ प्रोफेसरों को निकाला जा चुका है। इसके अलावा ३३ प्रतिशत सीट उन्हें लोकल बॉडी में भी दी गई है और असेम्बली में २५ प्रतिशत की। हालांकि जाते–जाते वो दिल को झकझोरने वाली एक घटना बता गईं। लगभग दस दिन पहले एक पाँच घण्टे की बच्ची को ज़मीन में ज़िन्दा सिर्फ इसलिए गाड़ दिया क्योंकि उसकी शक्ल उसके बाप को पसंद नहीं थी। उन्होंने आख़िर में कहा कि हमें इस्लाम को मौलवियों की नज़र से नहीं मौलाना आज़ाद की नज़र से देखना चाहिए। आख़िरी वक्ता के रूप में सैबा फ़ारूकी ने मंच से अपने क्रांतिकारी वक्तव्य में भारत और खासकर दिल्ली की महिलाओं की बदतर हालत का बयान किया। इस बहस को अंजाम दिया मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी ने। उन्होंने औरतों की स्थिति के वर्णन की कड़े शब्दों में आलोचना की। उन्होंने कहा कि 'हिन्दूस्तान की जम्हूरियत और पाकिस्तान की जम्हूरियत दो अलग–अलग मसले हैं।' उन्होंने फिल्ममेकर्स को भी सिर्फ गरीबी और बदहाली दिखाने पर लताड़ा। उन्होंने कहा कि 'आज हम मुस्लिम औरतों की बदहाली का रोना रो रहे हैं, मगर मुस्लिम औरतें मर्द की आँखों में आँखें डालकर बातें करना सीख गई हैं। आज वो अपनी मर्ज़ी से कपड़े पहन भी रही हैं और कपड़े उतार भी रही हैं।' ऐसे ही विवादास्पद और बागी तेवरों वाले बयानों के साथ प्रोग्राम खत्म हुआ, लेकिन कई जलती बहसों को हवा भी दे गया। इसके संकेत अन्त में धन्यवाद ज्ञापन कर रहे *हंस* के संपादक राजेन्द्र यादव की बातों में मिले।

•••

भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हिन्दी भाषा व साहित्य संबंधी पीएच.डी शोध—ग्रंथों की सूची

संकलन तथा प्रस्तुतीकरण : *सोन सन क्यंग, **अनिरुद्ध कुमार

शोध का विवरण इस क्रम से दिया गया है : शोधग्रंथ, शोधार्थी (शोधनिर्देशक), संस्थान, शहर।

(क) २०११ (नवंबर—दिसंबर) के दौरान ए.आई.यू. में प्राप्त सूचनाओं वाले शोध—ग्रंथ :

१. अंतिम दशक के हिंदी स्त्री रचनाकारों की कहानियों में पुरुष की स्थिति, अनिता, डॉ. राजकुमारी सिंह, हिंदी विभाग, ओस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

२. अनामिका के साहित्य का संबोध्य : स्त्री विमर्श के परिप्रेक्ष्य में विवेचनात्मक अध्ययन, पी वी सुमिथ, (डॉ. एस पद्मप्रिया), हिन्दी विभाग, पांडिचेरी विश्वविद्यालय, पांडिचेरी।

३. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुवाद का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, आलोक कुमार सिंह, (डॉ. रंजीत कुमार साहा), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

४. आधुनिक नारी जीवन का संत्रास : महिला कथा लेखन के संदर्भ में, बबिथा के. (डॉ. वी. विजयालक्ष्मी), हिंदी विभाग, पांडिचेरी विश्वविद्यालय, पुडुचेरी।

५. उच्च साहित्य में आधुनिकता : अवधारणा और इतिहास, राहुल सिंह. (डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

६. उपभोक्ता समाज और समकालीन हिन्दी कहानी, सीमा सिंह, (प्रो. शंभूनाथ शॉ), हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता।

७. कथाकार चित्रा मुद्‌गल के कथा साहित्य का अनुशीलन, दिलिपकुमार शिबुभाई गाधवी, (डॉ. एम. ए.यादव), हिंदी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

८. काशीनाथ सिंह की कथा में सामाजिक और सांस्कृतिक आयाम, विश्वनाथ, (डॉ. ओमप्रकाश सिंह), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

९. डॉ. नरेन्द्र कोहली और डॉ. सुदर्शन मजिठिया के व्यंग्य साहित्य का तुलनात्मक अनुशीलन, गिरीश वासुदेवभाई वेलियत (डॉ. दक्षाबेन जोशी), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

१०. दलित (हिंदी) आत्मकथा साहित्य का मूल्यांकन, वन्दना चुटैल, (डॉ. साधना निर्भय—डॉ. प्रेमलता चुटैल), हिंदी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

११. 'नई कविता' और 'प्रगतिशील कविता में प्रेम, विपिन कुमार शर्मा, (डॉ. गोविन्द प्रसाद), भा. भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

१२. नई कविता में अभिव्यक्ति की कलात्मता : विशिष्ट कवियों के संदर्भ में, वी. सीमा कुमारी. (प्रो शुभदा वंजपे), हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

१३. नवम् दशक की कविताओं में मान प्रतिमा, बयाजा महादेओ कौतुले, (डॉ. साधना शाह), हिंदी विभाग, डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद।

१४. निर्गुण भक्ति संवेदना और परिचय अनन्तदास का साहित्य : कबीरपंथ के विशेष संदर्भ में, अमित कुमार राय, (डॉ. रामचंद्र), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

१५. निर्मल वर्मा के उपन्यासों में युग—चेतना, धिरुभाई मधुभाई डोमड़िया, (डॉ. एम.ए.यादव), हिंदी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

१६. पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भों में गोविंद मिश्र के कथा साहित्य का अनुशीलन, ब्रजेश कुमार बैन, (प्रो. गोविंद द्विवेदी), हिंदी विभाग, डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर।

१७. प्रयोगशील रचनाकार : मणि मधुकर (उपन्यास, कहानी, नाटक के विशेष संदर्भ मे), भारती फतेभाई चौधरी, (डॉ. वीपी चौहान), हिंदी विभाग, हेमचंद्राचार्य उत्तरी गुजरात विवि, पटन।

१८. प्रो. हरिशंकर आदेश के महाकाव्यों का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, कुसुम लता, (डॉ. एस.एन.शर्मा), हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

१९.फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास साहित्य : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, (डॉ. एम.जे. बंधया), हिंदी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

२०. बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हिंदी आलोचना और राजनीति, आनंद कुमार पांडे, (डॉ. गोविंद प्रसाद), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

२१. मालवी एवं हरियाणवी (बाँगरु) लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन : एक अनुशीलन, कृष्ण पेंसिया, (डॉ. शंकरलाल गोयल—डॉ. हरिमोहन बुओधोलिया), हिंदी विभाग,विक्रम विवि, उज्जैन।

२२. मुद्राराक्षस : जीवन एवं साहित्यिक चिंतन, मलिकार्जुन पिरप्पा गौउडागनवी, (डॉ. वी.ए.हेगड़े), हिंदी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़।

२३. मोहन राकेश के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, शिवानंद सिंह युमनाम, (प्रो. के. इबोहल सिंह), हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल।

२४. राहुल सांकृत्यायन की कहानियों में अभिव्यक्त समाजबोध और इतिहासबोध : एक आलोचनात्मक अध्ययन, एलिजाबेथ देवी सैखोम, (प्रो.एस.पी. सिंह चौहान), हिंदी विभाग, असम विवि,

२५. वीरेंद्र जैन का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन, विलासराव महालंकार बालाजी, (डॉ. पीएन जाधव), हिंदी विभाग, डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद।

२६. सगुण भक्त कवियों की नारी विषयक दृष्टि, कृष्ण कुमार राय, (प्रो. विरेंद्र मोहन), हिंदी विभाग, डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर।

२७. समकालीन कविता के संदर्भ में उदय प्रकाश का काव्य, वीरेन्द्र सिंह, ('), हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला।

२८. समकालीन चेतना के परिप्रेक्ष्य में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना एवं श्री बीरेन के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, चानू इबेहैबी वैस्खोम, (प्रो. देवराज), हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल।

२९. समकालीन हिन्दी दलित आत्मकथाओं में दलित चेतना : अपने—अपने पिंजड़े भाग—१—२, लता, तिरस्कृत, संतप्त के विशेष संदर्भ में, शैलेश राणाभाई वाघेला, (डॉ. एम.के. गोस्वामी), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट.।

३०. साठोत्तर रामकथात्मक प्रबंध काव्यों में राजनीतिक चेतना, गजन लता, (डॉ. राम सजन पांडेय), हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

३१. सुदेश की काव्य संवेदना, विजय लक्ष्मी पांडा, (डॉ. सुधांशु कुमार नायक), हिंदी विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर।

३२. सूफीवाद और वैष्णववाद एक ही पेड़ के दो शाखाएं हैं : एक तुलनात्मक विश्लेषण, वैषणव चरण मुखर्जी, (डॉ. मुरारीलाल शर्मा), हिंदी विभाग, संबलपुर विश्वविद्यालय, संबलपुर।

३३. स्वतंत्रता आंदोलन के संदर्भ में शरतचंद्र और प्रेमचंद के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, बाग,

ज्योतिर्मय, (डॉ. ओमप्रकाश सिंह), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

३४. हिंदी की राष्ट्रीय साहित्य परम्परा के संदर्भ में सुभद्रा कुमारी चौहान के साहित्य का अनुशीलन, आरती श्रीवास्तव, (डॉ. आनंद प्रकाश), हिन्दी विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर।

३५. हिंदी उपन्यास और स्वतंत्र भारत में बदलता किसान जीवन, (१९४७–२०००), अजीत कुमार मिश्रा, (डॉ. ओमप्रकाश सिंह), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

३६. हिंदी यात्रा साहित्य की परंपरा और राहुल सांस्कृत्यायन, नित्यानंद बारी, (डॉ. जगदीशचंद्र शर्मा), हिंदी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

३७. हिंदी साहित्य के विकास में दलित साहित्यकारों का योगदान, राजू राम (डॉ. सोमा साहू), हिंदी विभाग, विनोबाभावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।

३८. हिन्दी के नाट्य गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, सुषमा देवी, (डॉ. विजय कुमार वेदालंकार), हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

३९. हिन्दी संत काव्य परम्परा तथा संत रविदास के काव्य में चित्रित समाज एवं संस्कृति, रामप्रसाद सूर्यवंशी, (डॉ. साधना निर्भय और डॉ. प्रेमलता चुटैल), हिन्दी विभाग, विक्रम विवि, उज्जैन।

(ख) २०१२ (जनवरी–मार्च) के दौरान ए.आई.यू में प्राप्त सूचनाओं वाले शोध–ग्रंथ :

१. अंतिम दशक के कथा साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, शिवहर बिरादर, (प्रो. दुर्गेश नंदिनी), हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

२. अलका सारावगी और आशा बग्गे का कथा साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, हेमलता विजय काटे, (डॉ. मोहन पी जाधव), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

३. आचार्य बलदेव राज संत का काव्य : संवेदना और शिल्प, अर्चना कुमारी, (डॉ. नरेश मिश्रा), हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

४. आधुनिक स्त्री विमर्श के संदर्भ में महादेवी वर्मा के स्त्री चरित्रों का एक अध्ययन, नुपुर पात्रा, (प्रो. मंजूरानी सिंह), हिन्दी विभाग, विश्व भारती, शांति निकेतन।

५. इक्कीसवीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यासों में भारतीय संस्कृति का विघटित रूप, ज्योति, (डॉ. सरिता वशिष्ठ), हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

६. गीतकार गुलजार और जगदीश खेबुदकर : तुलनात्मक अध्ययन, अशोक मोहन मारले (डॉ. प्रकाश बी मोकाशी), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

७. छायावादोत्तर हिन्दी कविता को झारखंड की देन, (डॉ. बनमाला चौधरी), हिन्दी विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।

८. जनजागरण के संदर्भ में दिनकर और कुसुमाग्रज के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, अमर अबासाहेब बर्कुल पाटिल, (डॉ. डी. वाई, इंगली), हिन्दी विभाग, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद।

९. डॉ. प्रभा खेतान के समग्र साहित्य का अनुशीलन, सुगंधा हिंदुराव गर्पंकर, (डॉ. के.आर. पाटिल), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

१०. दिनेश नंदिनी डालमिया के उपन्यासों का शैलीपरक अध्ययन, सुनीता देवी, (डॉ. पीएल ढल), हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

११. दुष्यंत कुमार रचनात्मक वैशिष्ट्य, रामचंद्र राम, (डॉ. सी.पी. डांगी), हिन्दी विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।

१२. देवेन्द्र शर्मा इंद्र के नवगीतों में बिंब योजना, योग माया, (डॉ. एस.एन. शर्मा), हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

१३. नवगीत काव्य में जनवादी चेतना के स्वर : एक अध्ययन, कंचन कुमारी गिरीश, ('), हिन्दी विभाग, बड़ौदा के.एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा।

१४. प्रभा खेतान के उपन्यासों में परिलक्षित सामाजिक यथार्थ, सीमा तुकारामजाधव, (डॉ. ओमप्रकाश सिंह), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

१५. प्रमुख मैथिली उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, प्रोमिला, (डॉ. रंजीत कुमार साहा), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

१६. प्रेमचंद के कथा साहित्य में गाँव, हिंदूराव रामचंद्र घर्पकर, (डॉ. एस.एन. आत्रेय), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

१७. ब्रिटिश कालीन भारत में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विचारधाराओं का उद्भव और विकास, नरेश कुमार साव, (डॉ. टी. सिंह), हिन्दी विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।

१८. मंझन कृत मधुमालती में प्रकृति चित्रण, पूनम, (प्रो. विद्या सिवाच), हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

१९. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को दलित संतों का योगदान, जितेंद्र चावरे, (डॉ. जीवनवाला लूनावत), हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

२०. महादेवी वर्मा की स्त्री चेतना, मनीषा शॉ, (प्रो. चंद्रकला पांडे), हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता।

(ग) मार्च–अप्रैल, २०१२ :

१. मिथिलेश्वर और आनंद यादव की कहानियों में चित्रित ग्राम जीवन का तुलनात्मक अध्ययन, संजय पिराजी चिंदगे, (डॉ. पुष्पा वास्कर), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

२. मिथिलेश्वर के कथा साहित्य में ग्राम संवेदना, शिवाजी बोबड़े बालु, (डॉ. साधना शाह), हिन्दी विभाग, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद।

३. मीरा की कविता और समकालीन समाज, राजनीति और संस्कृति, अरविंद सिंह तेजावत, (प्रो. रामबछ जाट), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

४. मुक्तिबोध की कृतियों में प्रत्यय प्रयोग : कहानियों के विशेष संदर्भ में, सुषमा, (डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय), भाषा प्रौद्योगिकी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

५. मुख्य हिन्दी उपन्यास और स्त्री : विवाह संस्था के विशेष संदर्भ में, भावना सिंह शाक्य, (डॉ. ओमप्रकाश सिंह), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

६. मूल्य विघटन के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक युद्ध काव्यों का अध्ययन, एम स्वप्ना, (डॉ. मनु), हिन्दी विभाग, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालाड्य, जिला एरनाकुलम।

७. मेक्राकांत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : एक अनुशीलन, एम गोपी, (डॉ. विजय कुमार), हिंदी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

८. मैत्रेयी पुष्पा एवं अनुराधा गोरव के कथा साहित्य की चेतना का तुलनात्मक अध्ययन, बलासो बिरु कामन्ना, (डॉ. अर्जुन चव्हाण), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

९. मोहन राकेश के गद्य साहित्य का तात्विक अनुशीलन, विजयकुमार दामजीभाई मैआनी, (डॉ. दक्षाबेन जोशी), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

१०. यादवेंद शर्मा चन्द्र के उपन्यासों में प्रतिबिंबित नारी, सुजाता शिवाजी पाटिल, (डॉ. के.पी. माली), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

११. युवा पीढ़ी के चरित्र निर्माण में कन्हैयालाल मिश्र के साहित्य का योगदान, द्वारका सुदामराव गीते, (डॉ. ओ.पी. नायर), हिन्दी विभाग, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर मराठवाड़ा विवि, औरंगाबाद।

१२. रामचरितमानस तुलसीकृत एवं बाल्मीकि रामायण में समाजदर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन, गोस्वामी प्राग्नाबेन भवनपारी, (डॉ. मनोहर गोस्वामी), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विवि, राजकोट।

१३. वर्तमान संदर्भ में कबीर काव्य का अनुशीलन, सत्यनारायण प्रसाद टंडन, (डॉ. एन.पी. सिन्हा), हिंदी विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।

१४. विजय तेन्दुलकर के नाटकों में सामाजिक सरोकार, रीना शर्मा, (डॉ. एस.एन. शर्मा), हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

१५. वीरेंद्र जैन के उपन्यासों में यथार्थ बोध, आशाबेन रुगानाथभाई पटेल, (डॉ. ममता शर्मा), हिन्दी विभाग, हेमचंद्राचार्य उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटन।

१६. वीरेंद्र जैन के उपन्यासों में युग चेतना, उमा दिनकरभाई मेहता, (डॉ. एसडी भभोर), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

१७. वैश्वीकरण के दौर की हिन्दी कहानियों में किसान जीवन, अमित कुमार, (डॉ. सुभाष चंद्र), हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

१८. व्यक्ति, समाज और इतिहास की अवधारणा और हरिशंकर परसाई का साहित्य, अमिता पांडे, (प्रो. सत्यकाम), हिन्दी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

१९. शिव मंगल सिंह सुमन के काव्य का विचार–पक्ष, हिमांशु हर्षदराय जोशी, (डॉ. एस.के. मेहता), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

२०. संजीव का कथा साहित्य : कथ्य एवं शिल्प, रामचंद्र मारुति लोंढे, (डॉ. के.पी. माली), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

२१. संत कवि गुरु जम्भेश्वर के काव्य का समग्र अनुशीलन, फूसाराम बिश्नोई, (डॉ. वंदना जैन और डॉ. शैलेंद्र कुमार शर्मा), हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

२२. समकालीन कवित्रियों की जनवादी चेतना, श्रीजा परमेश्वरन (डॉ. के.पी. प्रमिला), हिन्दी विभाग, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कलाडी, जिला एरनाकुलम।

२३. सिद्धनाथ कुमार की नाट्य कला का मूल्यांकन, सरोज राय, (डॉ. एस.एन.पी. सिन्हा), हिन्दी विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग।

२४. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के गद्य साहित्य में चिंतन पक्ष, अशोक कुमार भीमशी मादाम, (डॉ. के.सी. देसाई), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

२५. स्वतंत्र्योत्तर पुराख्यानमूलक प्रबंध काव्यों में दलित विमर्श, पवन कुमार, (डॉ. विद्या सिवाच), हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

२६. स्वतंत्र्योत्तर महिला लेखन और उषा प्रियंवदा का कथा साहित्य, सविता विजेंद्रसिंह डागर, (डॉ. शशिबाला पंजाबी), हिन्दी विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाब।

२७. स्वतंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना : कवि–आलोचकों के संदर्भ में, शांति राजपूत, (डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित और डॉ. शैलेंद्र कुमार शर्मा), हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

२८. स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित सैनिक जीवन, मिलिंद नामदेव साल्वे, (डॉ. पीएस पाटिल), हिन्दी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर।

२९. स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी सामाजिक नाटकों की केन्द्र बिन्दु नारी : एक विवेचनात्मक अध्ययन, नायक (डॉ. यु.आर. मसूती), हिन्दी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़।

३०. हरिवंश राय बच्चन की अनुवाद की धारणा उनकी रचनाओं में, पुष्कर, अनिल कुमार, (डॉ. रंजीत कुमार साहा), भा.भा.के., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

३१. हिंदी नवगीत : प्रारंभ, विकास और प्रमुख नवगीतकार, पार्वतीबेन जीवनगिरि गोसाई, (डॉ. एस. बी. ऐसोदारिया), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट।

३२. हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रमुख ग्राम एवं नगर : आंचलिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, विपुल जयंतिलाल देवमुरारी, (डॉ. के.एम. त्रिवेदी), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विवि, राजकोट।

३३. हिन्दी उपन्यासों में चित्रित विद्रोह : बीसवीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों के संदर्भ में, संजय मारुति कांबले, (डॉ. वाई बी धूमल), हिन्दी विभाग, शिवाजी विवि, कोल्हापुर।

३४. हिन्दी उपन्यासों में विघटित जीवन–मूल्य : सन् १९९० से आज तक, रितु रानी, (डॉ. सरिता वशिष्ठ), हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

३५. हिन्दी कविता में छंद–विधान : सन् १९८० से अद्यतन, अरविंद कुमार (डॉ. वेद बरत शर्मा), हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

३६. हिन्दी कहानी में दलित वर्ग : संवेदना, आक्रोश और दिशा (कतिपय विशिष्ट कहानियों के संदर्भ में), गीताबेन रावजी चोवाटिया, (डॉ. आरएच बंकर), हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र विवि, राजकोट।

३७. हिन्दी की अव्यय संरचना, कविता बिसारिया, (प्रो. उमा शंकर उपाध्याय), भाषा प्रौद्योगिकी विभाग, महात्मा गांधी अं. हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

३८. हिन्दी की दलित आलोचना की समस्याएं, जय सिंह मीणा (डॉ. ओमप्रकाश सिंह), भा.भा.के. ,जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

३९. हिन्दी दलित आत्मकथा : संवेदना और शिल्प, राजेंद्र गीताराम लहरे, (डॉ. एसके भंडारे), हिन्दी विभाग, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद।

४०. हिन्दी दृश्य–श्रव्य माध्यमों में उपन्यासिक कृतियों का प्रस्तुतिकरण एवं तुलनात्मक विवेचन : शरतचंद्र की नारी केंद्रित उपन्यासिक कृतियाँ 'परिणीता', 'देवदास', 'मंझली दीदी' एवं 'विराज बहू' के विशेष संदर्भ में, संतोष कुमार चौधरी, (डॉ. पद्म सिंह और डॉ. प्रभाकर सिंह), हिन्दी विभाग, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर।

४१. हिन्दी नाटक और रंगमंच में लोकतत्त्व : भारतेंदु युग से प्रसाद युग तक, हरदीप कौर, (डॉ. कमलेश कुमारी रवि और डॉ. प्रेमकली शर्मा), हिन्दी विभाग, दयालबाग शैक्षिक संस्थान, दयालबाग,

४२. हिन्दी पत्रकारिता के विकास में कमलेश्वर का योगदान, पौपसिंह परमार, (डॉ. प्रेमलता चुटैल), हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

*शोध छात्रा : भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 67

**सहायक प्राध्यापक : हिन्दी विभाग, पी.जी.डी.ए.वी. (सांध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

•••